Published by Shri Nathuram Premi, Proprietor–Shri Jain–Grantha Ratnakar Karyalaya, Hirabag, C. P. Tank.—Bombay.

Printed by B. R. Ghanekar, at the Nirnaya Sagar Press, No. 23, Kolbhat Lane, Kalbadevi Road—Bombay.

प्रस्तावना।

तत्त्वार्थसूत्र जिसका असली नाम मोक्षशास्त्र है हम लोगोंका परम पूजनीय और मान्य ग्रंथ है। इसे प्रत्येक जैनी पढ़ना पढ़ाना सुनना अपना परम धर्म समझते हैं। इसके एक वारके पाठ मात्रसे, एक उपवासका फल होता है। यह ग्रंथ जैसा उपयोगी है और इसमें जैनधर्मका अटूट समुद्र भरकर जो 'गागरमें सागरकी' कहावत सिद्ध की गई है, उसके कहनेकी कोई जरूरत नहीं है। इसमें करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोगका वर्णन बड़ी गंभीरतासे किया है। इसकारण श्रीसमन्तभद्रादि बड़े २ आचार्योंने संस्कृत भाष्य और संस्कृत टीकायें रचकर बड़े विस्तारसे इसका गंभीराशय खोला है। देशभाषामें भी जयपुरके विद्वद्वर्य पं० जयचंद्रजी आदिने सर्वार्थसिद्धि वगैरह संस्कृत टीकाओंकी वचनिका लिखी है, परंतु अभीतक इसकी कोई ऐसी टीका छपकर प्रकाशित नहीं हुई, जो पढ़नेवाले विद्यार्थियों तथा सर्वसाधारण जैनी भाइयोंकी समझमें सहज ही आ जावे तथा विद्यार्थियोंके लिये भी पठनक्रमानुसार ऐसी कोई टीका बनी वा छपी नहीं हैं। इसकारण हमने इस त्रुटिकी पूर्त्तिकेलिये यह भाषाटीका तैयार की है। यह टीका भादोंके दशलक्षण पर्वके दिनोंमें बांचनेके लिये भी बड़ी उपयोगी होगी। क्योंकि साधारण भाई भी इससे सूत्रोंका अर्थ बांचकर सबको

समझा सकते हैं। जहांतक हो सका, इसके सर्वोपयोगी बनानेमें परिश्रम किया गया है। इसके संशोधनमें पंडित लालारामजी और वंशीधरजीने बहुत कुछ सहायता दी है इसकारण मैं उनका हृदयसे आभार मानकर इस प्रस्तावनाको पूरी करता हूं।

बम्बई—अक्षयतृतीया वीर नि० सं. २४३२।

द्वितीयावृत्तिकी सूचना—जैनधर्मके एक अच्छे विद्वानसे संशोधन कराके यह द्वितीयावृत्ति प्रकाशित की जाती है। प्रथम वार दृष्टिदोष तथा अज्ञानतासे जो भूलें रह गई थी, अबकी वार उनका संशोधन हो गया है। इति शम्। ता० १२—१०—०८ ई०

पन्नालाल बाकलीवाल.

तृतीयावृत्तिकी सूचना—इस आवृत्तिका संशोधन पं० मनोहरलालजी और पं० रामप्रसादजीकी सहायता तथा सम्मतिसे किया गया है। सहज ही समझमें आनेके लिये भाषाशैलीमें भी यत्र तत्र परिवर्तन किया है। भाद्रपद शुक्ल ११—२४३७।

नाथूराम प्रेमी।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

मोक्षशास्त्र ।

बालबोधिनी भाषाटीकासहित ।

दोहा ।

पंचपरमपद प्रणमकरि, जिनवाणी उर धारि ।
मोक्षशास्त्र भाषार्थसह, लिखहुँ बालहितकारि ॥ १ ॥

आत्माका हित मोक्ष है उसके मिलनेका उपाय क्या है? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य सूत्र कहते हैं—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

अर्थ—(सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका मिलना (मोक्षमार्गः) मोक्षका मार्ग है अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है ॥ संशय विपर्यय

१ अनिश्चितानेककोट्यवलम्बनं संशयः । जिन २ पदार्थोंके ज्ञानमें संशय हो उनमें समान रहनेवाले

और अनध्यवसायरहित जीवादि पदार्थोंके जाननेको **सम्यग्ज्ञान** कहते हैं और मिथ्यात्व कषायादिक संसारकी कारणरूप क्रियाओंसे विरक्त होनेको **सम्यक्चारित्र** कहते हैं। आगे सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं;—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

अर्थ—(तत्त्वार्थश्रद्धानं) तत्त्व—अर्थात् वस्तुके स्वरूपसहित अर्थ अर्थात् पदार्थोंका [सात तत्त्वोंका] श्रद्धान करना (सम्यग्दर्शनं) सम्यग्दर्शन है ॥ २ ॥

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

अर्थ—(तत्) वह सम्यग्दर्शन (निसर्गात्) स्वभावसे (वा) अथवा (अधिग-

---

धर्मके दर्शनसे, तथा उनके विशेष धर्मके अदर्शनसे जो अनेक पदार्थोंको अवलंबन करनेवाला ज्ञान होता है, उसको **संशय** कहते हैं। जैसे यह पदार्थ स्थाणु है अथवा पुरुष है? सीप है या चांदी है? ऐसा अनिश्चितरूप ज्ञान। २ समान चिह्न देखनेपर अन्य पदार्थमें अन्यपदार्थके निश्चय होनेको **विपर्यय** कहते हैं—जैसे रस्सीमें सर्पका निश्चित ज्ञान। १ जाननेकी इच्छाके अभावमें अनिश्चितरूप तथा विकल्परहित जो सूक्ष्म ज्ञान हो, उसको **अनध्यवसाय** कहते हैं। जैसे—मार्गमें चलते समय पांवसे छूए हुए अनेक धूलि कंटक पाषाण बालू तृण आदिकोंका स्पर्श होनेपर 'कुछ है' इसप्रकार विकल्परहित तथा अनिश्चितरूप (जिसमें अनेक कोटियोंका अवलंबन नहीं हो, ऐसा) ज्ञान होता है, वह अनध्यवसाय है।

भात्) परके उपदेशसे उत्पन्न होता है अर्थात् जो सम्यग्दर्शन परके उपदेशविना अपने
आप ही उत्पन्न हो, उसको तो निसर्गजसम्यग्दर्शन कहते हैं और जो अन्यके उपदेशसे
उत्पन्न हो उसको अधिगमजसम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ ३ ॥

जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाः) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर,
निर्जरा और मोक्ष ये सात (तत्त्वं) तत्त्व हैं ॥ चेतनालक्षण जीव है और चेतनागुण जिनमें
नहीं, ऐसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच अजीवतत्त्व हैं । शुभअशुभक-
र्मोंके आनेके द्वारको आस्रव कहते हैं । आत्माके प्रदेशोंमें कर्मोंका प्रवेश हो जाना (संबंध
होना) बंध है । आस्रवोंका रुकना संवर है । आत्माके [जीवके] प्रदेशोंसे कर्मोंका
एकदेश क्षय होना [पृथक् होना] निर्जरा है और समस्त कर्मोंका सर्वथा पृथक् हो
जाना मोक्ष है । इनका ही विशेष वर्णन इस ग्रंथके दशों अध्यायोंमें किया गया है ॥ ४ ॥

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

अर्थ—(नामस्थापनाद्रव्यभावतः) नाम, स्थापना, द्रव्य और भावसे (तत्न्यासः)
उन साततत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकका न्यास अर्थात् लोकव्यवहार होता है ॥ गुण जाति

द्रव्य और क्रियाकी अपेक्षा विना ही अपनी इच्छानुसार लोकव्यवहारके लिये किसी पदार्थकी संज्ञा करनेको **नामनिक्षेप** कहते हैं। जैसे—किसी पुरुषका नाम इंद्रराज है परन्तु उसमें इन्द्रसरीखे गुण, जाति, द्रव्य, क्रिया कुछ भी नहीं हैं; उसके माता पिताने केवल व्यवहारार्थ नाम रख लिया है। लोकमें चतुर्भुज, धनपाल, देवदत्त, इंद्रदत्त, जिनदत्त, हाथीसिंह, जोरावरसिंह इत्यादि नाम रख लेते हैं। गुण जाति द्रव्य क्रियाकी अपेक्षासे ये नाम नहीं रक्खे जाते, इसीको नामनिक्षेप कहते हैं ॥ १ ॥ धातु, काष्ठ, पाषाण, मिट्टीके चित्रादिक तथा सतरंजकी सारआदि पदार्थोंमें हाथी घोड़ा बादशाह इत्यादि तदाकार[1] वा अतदाकाररूप[2] कल्पना कर लेनेको **स्थापनानिक्षेप** कहते हैं। जैसे—पार्श्वनाथभगवान्‌की वीतरागरूप जैसीकी तैसी शान्तमुद्रायुक्त धातुपाषाणमय प्रतिमाकी [मूर्त्तिकी] प्रतिष्ठा करना। यह **तदाकारस्थापना** है। और सतरंजकी गोटोंमें हाथी घोड़ा बादशाह मानना, यह **अतदाकारस्थापना** है। नाम निक्षेपमें पूज्य अपूज्यबुद्धि नहिं होती है, परन्तु स्थापनानिक्षेपमें होती है ॥ २ ॥ जो भूत भविष्यत् पर्यायकी मुख्यता लेकर वर्तमानमें कहना सो **द्रव्यनिक्षेप** है ॥

१ जो पदार्थ जिस आकारका हो उसे वैसा ही पत्थर काष्ठ मृत्तिकादिका बनाकर उसमें उसीकी स्थापना करनेको तदाकारस्थापना कहते हैं। २ और असली पदार्थका आकार जिसमें न हो ऐसे किसी भी पदार्थमें किसीकी स्थापना (कल्पना) करना सो अतदाकारस्थापना है।

जैसे—भविष्यतमें होनेवाले राजाके पुत्रको [युवराजको] वर्तमानमें राजा कहना अथवा जो भूतकालमें फौजदार था उसका ओहदा चला जानेपर भी उसे फौजदार कहना, यह द्रव्यनिक्षेप है ॥ ३ ॥ और जिस पदार्थकी वर्तमानमें जो पर्याय हो, उसको उसीरूप कहना सो भावनिक्षेप है । जैसे—काष्ठको काष्ठ अवस्थामें काष्ठ कहना और कोयला होनेपर कोयला और राख होनेपर राख कहना ॥ ४ ॥ ये चारों भेद ज्ञेयके (पदार्थके) होते हैं ॥ ५ ॥

प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

अर्थ—उक्त जीवादि तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकोंका (अधिगमः) ज्ञान अर्थात् स्वरूपका जानना (प्रमाणनयैः) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाणोंसे [सम्यग्ज्ञानसे] और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंसे होता है ॥ जो पदार्थके सर्वदेशको कहै,—जनावै, उसको प्रमाण कहते हैं और पदार्थके एकदेशको कहै—जनावै, उसको नय कहते हैं । आत्मा जिस ज्ञानकेद्वारा विना अन्यपदार्थकी सहायताके ही पदार्थको अत्यन्त निर्मल स्पष्टतया जानै, उसको प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं । और चक्षुरादि इन्द्रियोंकी सहायतासे तथा शास्त्रादिकसे पदार्थको एक देश निर्मल जाने, उसको परोक्षप्रमाण कहते हैं । इसीके एक भागको अनुमानप्रमाण भी कहते हैं । जो पर्यायको उदासीनरूपसे देखता हुआ द्रव्यको ही मुख्यतासे कहै सो द्रव्यार्थिकनय है और जो द्रव्यको मुख्य नहीं करके एक पर्यायको ही कहै सो पर्यायार्थिकनय है ॥ ६ ॥

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

अर्थ—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इनसे भी जीवादिक तथा सम्यग्दर्शनादिका अधिगम (ज्ञान) होता है ॥ वस्तुस्वरूपके नाम मात्र कहनेको **निर्देश** कहते हैं। वस्तुके अधिकारीको **स्वामित्व** कहते हैं। वस्तुकी उत्पत्तिके कारणको **साधन** कहते हैं। वस्तुके आधारको **अधिकरण** कहते हैं। वस्तुके कालकी मर्यादाको **स्थिति** और वस्तुके प्रकारको [भेद कहनेको] **विधान** कहते हैं ॥ ७ ॥

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

अर्थ—(च) और पदार्थका **सत्**—अस्तित्व, **संख्या**—वस्तुके परिणामोंकी गणना, **क्षेत्र**—पदार्थका वर्तमान निवास, **स्पर्शन**—जिस आधारमें सर्वदा निवास रहै ऐसा अधिकरण, **काल**—वस्तुके ठहरनेकी मर्यादा, **अन्तर**—विरहकाल, **भाव**—पदार्थोंके औपशमिकादिरूप भाव और **अल्पबहुत्व**—एकवस्तुका दूसरेकी अपेक्षा थोड़ा बहुतपना, इन आठोंके स्वरूप जानने वा कहनेसे भी सम्यग्दर्शनादि तथा जीवादिकपदार्थोंका अधिगम [ज्ञान] होता है[1] ॥ ८ ॥

अब सम्यग्ज्ञानके भेदोंको तथा स्वरूपको कहते हैं,—

---

१ इनका विस्तृत कथन सर्वार्थसिद्धिआदि शास्त्रोंमें चौदह गुणस्थान चौदह मार्गणाके वर्णनमें है।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

अर्थ—(मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच प्रकारके (ज्ञानं) ज्ञान हैं॥ जो पांच इंद्रियोंसे और मनसे पदार्थको जानै उसे मतिज्ञान कहते हैं। जो मतिज्ञानके द्वारा जाने हुए पदार्थकी सहायतासे उसी पदार्थके भेदोंको अथवा अन्यपदार्थको जानै, उसे श्रुतज्ञान[1] कहते हैं। जो क्षेत्रकालभाव तथा द्रव्यकी मर्यादालिये रूपी पदार्थको प्रत्यक्षरूपसे जानै, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। जो अन्यके मनमें तिष्ठे हुए रूपी पदार्थोंको जानै, वह मनःपर्ययज्ञान है और जो समस्त द्रव्यक्षेत्रकालभावको प्रत्यक्षरूप जानै अर्थात् भूत भविष्यत् वर्तमानमें होनेवाली पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंको एक ही कालमें जानै सो केवलज्ञान है ॥ ९ ॥

तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

अर्थ—(तत्) ऊपर कहा हुआ पांचप्रकारका ज्ञान है सो ही (प्रमाणे) प्रमाणरूप है तथा उसके दो मूल भेद हैं। भावार्थ—उक्त पांचप्रकारके ज्ञान ही प्रत्यक्ष—परोक्षरूप दो प्रमाण हैं ॥ १० ॥

---

१ श्रुतज्ञानका लक्षण और प्रकारसे भी कहा गया है।

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

अर्थ—(आद्ये) आदिके दो मति और श्रुतज्ञान (परोक्षं) परोक्षप्रमाण हैं ॥ ११ ॥

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अर्थ—(अन्यत्) बाकीके अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष-प्रमाण हैं ॥ १२ ॥

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

अर्थ—(मतिः) मन और इन्द्रियोंसे वर्तमानकालवर्ती पदार्थको अवग्रहादिरूप जानना (स्मृतिः) अनुभवित पदार्थोंका कालान्तरमें स्मरण होना (संज्ञा) वर्तमानमें किसी पदार्थको देखकर यह वही है जो पहिले देखा था इसप्रकार जोड़रूप ज्ञान होना [इसको प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं] (चिन्ता) किसी चिह्नको देखकर 'वहांपर इस चिह्नवाला अवश्य होगा' इसप्रकार विचार करना [इसको ऊहा तथा तर्क भी कहते हैं] (अभिनिबोधः) सम्मुख चिह्नादिक देखकर उस चिह्नवालेका निश्चय कर लेना [इसको स्वार्थानुमान भी कहते हैं] (इति) इनको आदिलेकर प्रतिभा, बुद्धि, उपलब्धि इत्यादि सब (अनर्थान्तरम्) अर्थभेदरहित हैं अर्थात् मतिज्ञानके ही नामान्तर हैं और ये सब मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ही होते हैं ॥ १३ ॥

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(तत्) वह मतिज्ञान (इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्) बाह्यमें पांच इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है अर्थात् इसके छह बाह्यकारण हैं किन्तु अंतरंगमें मतिज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपयशम इसका कारण है[1] ॥ १४ ॥

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

अर्थ—मतिज्ञानके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये ४ भेद हैं ॥ किसी वस्तुकी सत्ता (होने) मात्रको देखै अर्थात् जानै उसको दर्शन वा दर्शनोपयोग कहते हैं और दर्शनके पश्चात् श्वेत कृष्णादिरूप विशेष जाननेको अवग्रहमतिज्ञान कहते हैं। अवग्रहके पश्चात् यह श्वेत वा कृष्ण क्या पदार्थ है? इसके विशेष जाननेकी (यह श्वेतपदार्थ बकपंक्ति होना चाहिये अथवा श्वेतधुजा देखी हो तो धुजा होना संभव है, इसप्रकार) इच्छा होनेको ईहामतिज्ञान कहते हैं। ईहाके पश्चात् ही जो ईहामें ज्ञान हुआ था उसका विशेष चिह्नोंसे निश्चय होना (बकपंक्ति हो तो बकपंक्ति और ध्वजा हो तो ध्वजा) सो अवायमतिज्ञान है। और जिस ज्ञानके कारणसे जानेहुए पदार्थको कालान्तरमें नहीं भूलै सो धारणामतिज्ञान[2] है ॥१५॥

---

१ बाह्य कारणोंकी अपेक्षासे इसके छह भेद हैं स्पार्शन, रासन, घ्राणज, चाक्षुष, श्रावण, और मानस।
२ ये चारों भेद विशेषकर क्रियाके होते हैं।

वहुवहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

अर्थ—(वहुवहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां) वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव इन छहप्रकारके पदार्थोंका तथा (सेतराणाम्) इनसे उलटे अल्प, एकविध. अक्षिप्र तथा निःसृत उक्त और अध्रुव इन छहको मिलाकर द्वादशप्रकारके पदार्थोंका अवग्रह ईहादिरूप ग्रहण (ज्ञान) होता है ॥ जैसे—एक साथ वहुत अवग्रहादिरूप ग्रहण होना सो वहुग्रहण है ॥१॥ वहुतप्रकारके पदार्थोंका अवग्रहादिरूप ज्ञान होना सो वहुविधग्रहण है ॥ २ ॥ शीघ्रतासे पदार्थका अवग्रहादिरूप ज्ञान हो जाना सो क्षिप्रग्रहण है ॥ ३ ॥ जलमें डूबे हुए हस्ती मनुष्यादिकका एक देश जाननेसे उस सम्पूर्ण पदार्थका अवग्रहादिरूप ज्ञान होना सो अनिःसृतग्रहण है ॥ ४ ॥ वचनसे सुने विना ही अभिप्रायसे जान लेना सो अनुक्तग्रहण है ॥ ५ ॥ और वहुतकालतक जितनाका तितना निश्चलरूपसे पदार्थोंका ज्ञान होते रहना सो ध्रुवग्रहण है ॥ ६ ॥ इसीप्रकार इनसे उलटे पदार्थोंका जैसे अल्पका ज्ञान होना वा एकपदार्थका जानना सो अल्पग्रहण है॥७॥ एकप्रकारका जानना सो एकविधग्रहण है ॥ ८ ॥ पदार्थका धीरे धीरे वहुत कालमें जानना सो चिरग्रहण है ॥ ९ ॥ वाहर निकले हुए प्रगटरूप पदार्थका जानना सो निःसृतग्रहण है ॥ १० ॥ यह घट है इसप्रकार शब्द सुनकर घटपटादि पदार्थोंका जानना सो उक्तग्रहण है

॥११॥ और क्षणक्षणमें कमती ज्यादा होता रहै अथवा क्षणमात्रमें नष्ट हो जाय इस प्रकारके पदार्थका जानना सो अध्रुवग्रहण है ॥ १२ ॥ इसप्रकार बारह प्रकारकी अवस्थावाले पदार्थोंका अवग्रह ईहा अवाय धारणारूप मतिज्ञान होता है[1] ॥ १६ ॥

अर्थस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—पदार्थोंके ये बहु आदिक बारह भेद कहे सो द्रव्यके हैं. अर्थात् पदार्थके बहुआदि विशेषणसहित बारहप्रकारअवग्रहादि ज्ञान होते हैं। किसीका मत है कि जो चाक्षुषज्ञान होता है सो रूपका ही होता है, द्रव्यका नहीं, द्रव्यका तो उसके सम्बन्धसे पीछे ज्ञान होता है । इसके खंडनार्थ आचार्य महाराज कहते हैं कि— सम्बन्ध पदार्थके (द्रव्यके) साथ ही होता है—केवल गुणके साथ कभी नहीं होता है । इसकारण ही यह सूत्र रचा गया है ॥ १७ ॥

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अर्थ—(व्यञ्जनस्य) अप्रकटरूप शब्दादिक पदार्थोंका (अवग्रहः) केवल अवग्रहरूप ज्ञान होता है—ईहादिक अन्य तीन ज्ञान नहीं होते हैं ॥ १८ ॥

---

१ विषयके भेदसे बहु आदिके १२ भेद होते हैं ।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

अर्थ—किन्तु (चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्) नेत्र और मनसे व्यञ्जन [अप्रकटपदार्थ] का अवग्रहज्ञान (न) नहीं होता[1] है ॥ १९ ॥

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

अर्थ—(श्रुतं) श्रुतज्ञान (मतिपूर्वं) मतिज्ञानके निमित्तसे होता है सो (द्व्यनेकद्वादश भेदं) दो प्रकारका है, अङ्गबाह्य और अङ्गप्रविष्ट । इनमेंसे आदिका (अङ्गबाह्य) अनेक (चौदह) प्रकार तथा दूसरा (अङ्गप्रविष्ट) बारह प्रकारका है । अभिप्राय यह है कि श्रुतज्ञानके मूल दो भेद हैं एक द्रव्यश्रुत दूसरा भावश्रुत । यहां कारणकी मुख्यताको लेकर आचार्यने सूत्रमें द्रव्यश्रुतका ही कथन किया है और ऊपर कहे हुए भेद भी द्रव्यश्रुतके हैं । अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञानके १ आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग, ४ समवायांग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्तिअंग, ६ ज्ञातृधर्मकथांग, ७ उपासकाध्ययनांग, ८ अंतकृद्दशांग, ९ अनुत्तरौपपादिकदशांग, १० प्रश्नव्याकरणांग, ११ विपाकसूत्रांग, १२ और दृष्टिप्रवादअंग इसप्रकार बारह भेद हैं । अङ्गबाह्यके १ सामायिक, २ चतुर्विंशस्तव, ३ वंदना, ४ प्रतिक्रमण, ५ वैनयिक, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक,

---

[1] जब नेत्र और मनसे व्यञ्जनका अवग्रह नहीं होता हैं तब इनसे ईहादिक भी नहीं नहीं हो सकते हैं । क्योंकि विना अवग्रह हुए ईहादिक नहीं हो सकते हैं ।

८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प, ११ महाकल्प, १२ पुण्डरीक, १३ महापुण्डरीक और १४ निषिद्धिका ये चौदह भेद हैं । अंगोंका थोड़ा [2] सारांश लेकर संक्षेपसे अल्पबुद्धि पुरुषोंकेवास्ते रचे हुए दशवैकालिकादि श्रुत हैं ॥ २० ॥

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—जो मर्यादायुक्त ज्ञान हो, उसे अवधिज्ञान कहते हैं । अवधिज्ञान दो प्रकारका है एक भवप्रत्यय[1]अवधिज्ञान, दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक । इनमेंसे (भवप्रत्ययः) भवप्रत्यय-नामका (अवधिः) अवधिज्ञान (देवनारकाणाम्) देव और नारकी जीवोंके ही होता है ॥ २१ ॥

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥ २२ ॥

अर्थ—(क्षयोपशमनिमित्तः) क्षयोपशमनिमित्तवाला अवधिज्ञान (षड्विकल्पः) अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित इसप्रकार छह भेदरूप

---

१ जो देवगति और नरकगतिके (भवके) कारण उत्पन्न हो उसे भवप्रत्ययावधि कहते हैं । २ अवधिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञान होता है उसको क्षयोपशमनिमित्तिक अवधिज्ञान कहते हैं । तथा सामान्यपने अवधिज्ञान १ देशावधि, २ परमावधि, ३ सर्वावधिके भेदसे तीन प्रकारका है, उसमें भवप्रत्यय अवधि देशावधि ही होता है और दूसरा तीनों ही तरहका होता है ।

है सो (शेषाणा) मनसहित सैनी जीवोंके अर्थात् सम्यग्दर्शनादि सहित मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है ॥ जो अवधिज्ञान अन्यक्षेत्र वा भवमें जीवके साथ जाय उसे अनुगामी, साथ नहीं जाय उसे अननुगामी, जो बढ़ता रहै उसे वर्द्धमान्, घटता रहै उसे हीयमान्, एकसा रहै उसे अवस्थित और घटता बढ़ता रहै उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहते हैं ॥ २२ ॥

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

अर्थ—(मनःपर्यय) मनःपर्ययज्ञान (ऋजुविपुलमती) ऋजुमति और विपुलमति भेदसे दो प्रकारका है ॥ मनवचनकायकी सरलता रूप परके मनमें तिष्ठते हुए पदार्थको जानै उसे ऋजुमति कहते हैं । और सरल तथा वक्ररूप परके मनमें रहनेवाले पदार्थको जानै सो विपुलमति मनःपर्यय है ॥ २३ ॥

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

अर्थ—(विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां) परिणामोंकी विशुद्धतासे और अप्रतिपातसे[1] अर्थात् केवलज्ञान होने तक रहे उससे पहले नहीं छूटे इससे ही (तद्विशेषः) इन दोनोंमें न्यूनाधिकताका हेतु है अर्थात् ऋजुमतिमतिमनःपर्ययसे विपुलमतिमनःपर्यय उक्त दो हेतुओंके कारण बड़ा तथा पूज्य है ॥ २४ ॥

१ चारित्ररूपी पर्वतसे नहिं गिरना उसको अप्रतिपात कहते हैं ।

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

अर्थ—जो रूपीद्रव्य सर्वावधिज्ञानका विषय है [1] (तदनन्तभागे) उसका अनन्तवाँ भाग भी सूक्ष्म द्रव्य (मनःपर्ययस्य) मनःपर्ययज्ञानका विषय हो सकता है ॥ २८ ॥

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ २९ ॥

अर्थ—(केवलस्य) केवल ज्ञानके विषयका नियम (सर्वद्रव्यपर्यायेषु) समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंमें है ॥ अर्थात् एक एक द्रव्यकी त्रिकालवर्त्ती अनंतानंत पर्याय हैं सो छहों द्रव्योंकी समस्त अवस्थाओंको केवलज्ञान युगपत् एक कालमें जानता है ॥ २९ ॥

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥

अर्थ—(एकस्मिन्) एक जीवमें (एकादीनि) एकको आदि लेकर (भाज्यानि [2]) विभाग किये हुए (युगपत्) एकसाथ (आचतुर्भ्यः) चार ज्ञानतक हो सकते हैं ॥ यदि किसी जीवमें एक ज्ञान हो तो केवल ज्ञान होता है। दो ज्ञान हों तो मति और श्रुत होते हैं। तीन ज्ञान हों तो मति श्रुत और अवधि ये तीन अथवा मति श्रुत और मनःपर्यय ये तीन

---

१ अवधिज्ञानके देशावधि आदि ३ भेद हैं। उनमें सबसे सूक्ष्मविषय (एकपरमाणु) सर्वावधिका है। इससे उसीके विषयका अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा भाग किया है। २ भङ्गं योग्यानि भाज्यानि, ये ज्ञान विभाग करने योग्य हैं।

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्ययोः ॥ २५ ॥

अर्थ—(अवधिमनःपर्ययोः) अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानमें भी (विशुद्धिक्षेत्र-स्वामिविषयेभ्यः) विशुद्धता, क्षेत्र, स्वामी और विषय इन चारोंकी विशेषतासे [विलक्षणतासे] भेद (फर्क) होता है । अर्थात् इन दोनोंके विशुद्धता, क्षेत्रकी मर्यादा, स्वामी और विषय न्यूनाधिक हैं। अभिप्राय यह कि मनःपर्यय, विशुद्ध, अल्पक्षेत्र, अल्पस्वामी और सूक्ष्मविषय-वाला है, और अवधिज्ञान, अविशुद्ध, बड़ा क्षेत्र, बहुतस्वामी, और स्थूलविषयवाला है ॥२५॥

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २६ ॥

अर्थ—(मतिश्रुतयोः) मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका (निबन्धः) विषयोंके जाननेका संबंध वा नियम (द्रव्येषु) द्रव्योंकी (असर्वपर्यायेषु) कुछ पर्यायोंमें है ॥ अर्थात मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीवादि छहों द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको नहीं जानते, थोड़ी २ पर्यायोंको ही जान सकते हैं ॥ २६ ॥

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

अर्थ—(अवधेः) अवधिज्ञानके विषयका नियम (रूपिषु) रूपी मूर्तीकपदार्थोंमें है अर्थात् अवधिज्ञान पुद्गलद्रव्यकी पर्यायोंको ही जानता है ॥ २७ ॥

होते हैं। और चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ज्ञान एक साथ हो सकते हैं॥ ३० ॥

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

अर्थ—(मतिश्रुतावधयः) मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान (विपर्ययः च) विपर्यय भी होते हैं॥ अर्थात् इन पांचों ज्ञानोंमेंसे जो कि सम्यग्ज्ञानके भेद हैं मति, श्रुत और अवधि ये तीन विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान भी होते हैं, जिनको कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान कहते हैं। इसप्रकार तीन तो कुज्ञान, और पांच सम्यग्ज्ञान, सब मिलाकर आठ प्रकारके ज्ञान होते हैं॥ ३१ ॥

ये ज्ञान कुज्ञान क्यों हैं? ऐसा प्रश्न होनेपर हेतु और दृष्टान्त देते हैं,—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

अर्थ—(सदसतोः) सत् और असत्रूप पदार्थोंके (अविशेषात्) विशेषका अर्थात् भेदका ज्ञान नहिं होनेसे (यदृच्छोपलब्धेः) स्वेच्छारूप यद्वा तद्वा जाननेके कारण (उन्मत्तवत्) उन्मत्तके समान ये मिथ्याज्ञान भी होते हैं॥ भावार्थ—जिसप्रकार मदिरासे उन्मत्त पुरुष भार्याको माता और माताको भार्या समझता है, यह उसका मिथ्याज्ञान है। परन्तु किसी समय वह भार्याको भार्या और माताको माता कहता है, तौ भी उसका वह जानना सम्यग्ज्ञान नहिं

कहलाता है। क्योंकि उसे माता और भार्यामें क्या विशेषता है इसका सत्यासत्यनिर्णयरूप यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शनके उदयसे सत् और असत् पदार्थोंका भेद नहीं समझते हुए कुमति कुश्रुत और कुअवधिज्ञानवालेका यथार्थ जानना भी मिथ्याज्ञान ही है ॥ ३२ ॥

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—(नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात (नयाः)नय हैं ॥ वस्तुमें अनेक धर्म अर्थात् स्वभाव होते हैं, उनमेंसे किसी एक धर्मकी मुख्यता लेकर अविरोधरूप साध्य पदार्थको जाने, सो नय है। नयके ऊपर लिखे हुए सात भेद हैं ॥ ३३ ॥

१. जितने द्रव्य हैं, वे अपनी भूत भविष्यत् वर्तमानकालकी समस्तपर्यायोंसे अन्वयरूप अर्थात् जोड़रूप हैं—अपनी किसी भी पर्यायसे कोई द्रव्य भिन्न नहीं है। सो अतीत पर्यायोंका तथा भविष्यत् पर्यायोंका वर्तमानकालमें संकल्प करे ऐसे ज्ञानको तथा वचनको नैगमनय कहते हैं। जैसे—कोई पुरुष रोटी बनानेकी सामग्री इकट्ठी करता है और उससे किसीने पूछा कि—क्या करते हो? इसके उत्तरमें उसने कहा कि,—'रोटी बनाता हूं' किंतु यहां अभीतक रोटी बनानेरूप पर्याय प्रगट नहिं हुई, वह केवल मात्र लकड़ियें जल वगैरह रख रहा है तथापि नैगमनयसे ऐसा वचन कह सकता है कि 'मै रोटी बना रहा हूं'।

२. जो एक वस्तुकी समस्तजातिको व उसकी समस्त पर्यायोंको संग्रहरूप करके एकस्वरूप कहै, उसको संग्रहनय कहते हैं। जैसे 'घट' कहनेसे सब घटोंको समझना अथवा 'द्रव्य' कहनेसे जीव अजीवादि तथा उनके भेद प्रभेदादि सबको समझना। यह संग्रहनय है।

३. जो संग्रहनयसे ग्रहण किये हुए पदार्थोंका विधिपूर्वक (व्यवहारके अनुकूल) व्यवहरण अर्थात् भेदप्रभेद करै सो व्यवहारनय है। जैसे—संग्रहनयसे 'द्रव्य' कहनेसे समस्त भेदप्र-भेदरूप द्रव्योंका सामान्यतासे ग्रहण होता है। परन्तु द्रव्य दो प्रकारके हैं, जीव और अजीव। जीव—देव नारकी मनुष्य तिर्यंच चार प्रकारके हैं। अजीव—पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश ये पांच प्रकारके हैं। इस प्रकार व्यवहारके साधक जितने भेदप्रभेद हो सकें, उनको जो बतलावे—जाने सो व्यवहारनय है।

४. अतीत अनागत दोनों पर्यायोंको छोड़के वर्त्तमानपर्याय मात्रको ग्रहण करै सो ऋजुसूत्रनय है। द्रव्यकी पर्याय समय[1] समयमें परिणमती (पलटती) रहती हैं। एकसमयवर्त्ती पर्यायको अर्थपर्याय कहते हैं। अर्थपर्याय ही ऋजुसूत्रनयका विषय है। ऋजुसूत्रनय वर्त्तमान एक समय मात्रकी पर्यायको कहता व ग्रहण करता है। अतीत अनागत समयकी पर्यायको ग्रहण नहीं करता है।

---

[1] कालके सबसे छोटे भागको एक समय कहते हैं।

५. जो व्याकरणसंबंधी लिङ्ग, संख्या (वचन), साधन (कारक), काल आदिकके व्यभिचारको (दोषोंको) दूर करके जाने वा कहे, उसे शब्दनय कहते हैं।

६. अनेक अर्थोंको छोड़ करके जो एक ही अर्थमें रूढ (प्रसिद्ध) हो, उसको जाने वा कहे, सो समभिरूढनय है। जैसे—गो शब्दके गमनआदि अनेक अर्थ होते हैं तथापि मुख्यतासे गो नाम गाय वा बैलका ही ग्रहण किया जाता है। उसको चलते बैठते सोते सब अवस्थाओंमें सब लोग गो ही कहते हैं। यही समभिरूढनय है।

७. जिसकालमें जो क्रिया करता हो, उसको उस कालमें उसही नामसे जाने वा कहे उसे एवंभूतनय कहते हैं। जैसे देवोंके पति इंद्रको जब वह परम ऐश्वर्यसहित हो, उसी अवस्थामें इंद्र कहना, पूजन अभिषेकादि करते हुए इन्द्र नहिं कहना तथा जिसकालमें वह शक्तिरूप क्रियाको करे उसी समय 'शक्र' कहना अन्य समयमें शक्र नहिं कहना।

इन सातों नयोंमेंसे नैगम संग्रह और व्यवहार ये तीन नय तो द्रव्यार्थिक हैं और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक हैं॥

यहां कोई संदेह करे कि—द्रव्यसंग्रह पुरुषार्थसिद्ध्युपायादिग्रन्थोंमें जो नयके निश्चय और व्यवहार दो भेद कहे वे कौनसे हैं, तो उनकेलिये कहा जाता है कि—

पदार्थके निजस्वरूपको मुख्य करे सो तो निश्चयनय है और जो किसी प्रयोजनके वश अन्य-

पदार्थके भावको अन्यपदार्थमें आरोपण करे अथवा परनिमित्तसे उत्पन्न हुए नैमित्तिक भावको ही वस्तुका निजभाव कहै, उसे व्यवहारनय कहते हैं। इसको उपचारनय तथा उपनय भी कहते हैं। उपर्युक्त नैगमादि सात नय द्रव्यके निजस्वरूपको ही मुख्य करते हैं इसकारण नैगमादि तीन द्रव्यार्थिक और ऋजुसूत्रादि चार पर्यायार्थिक इस प्रकार सातोंनय निश्चयनयके भेद हैं। और व्यवहार (उपचार) नयके सद्भूतव्यवहार असद्भूतव्यवहार और उपचरितव्यवहार ये तीन भेद हैं। जैसे जीवको रागादिक भावकर्मोंका कर्त्ता कहना सो सद्भूतव्यवहारनय है। क्योंकि जीवकी सत्तामें ही रागादिक भावरूप पर्याय हैं। तथा जीवको द्रव्यकर्म तथा शरीरादिक नोकर्मोंका कर्त्ता कहना सो असद्भूतव्यवहारनय है। और घटपटादिका कर्त्ता कहना सो उपचरितव्यवहारनय है। निश्चय नयके भी दो भेद है, एक शुद्धनिश्चयनय और दूसरा अशुद्धनिश्चयनय। जैसे जीवको क्षयोपशमरूप मतिज्ञानादिक चार ज्ञानोंका कर्त्ता कहना सो तो अशुद्धनिश्चयनय है और शुद्ध दर्शन ज्ञानका अर्थात् केवलदर्शन और केवलज्ञानका कर्त्ता कहना सो शुद्धनिश्चयनय है। इनका विशेष विषय और स्वरूप आलापपद्धति तथा नयचक्रादि ग्रंथोंसे जानना चाहिये ॥ ३३ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायो लिख्यते ।

पहले सम्यग्दर्शनके लक्षणमें जीवादि साततत्त्वोंका श्रद्धान कहा था । उनमेंसे प्रथम जीवका निजभाव (स्वरूप) क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य सूत्र कहते हैं;—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥

अर्थ—(जीवस्य) जीवके (औपशमिकक्षायिकौ) औपशमिक और क्षायिक (भावौ) भाव ( च मिश्रः) और मिश्र (औदयिकपारिणामिकौ च) औदयिक तथा पारिणामिक भाव ये पांच भाव हैं और ये पांचों ही भाव जीवके (स्वतत्त्वं) निजतत्त्व वा निजभाव हैं अर्थात् ये जीवमें ही होते हैं॥ जैसे मलिन जलमें निर्मली वा फिटकड़ी डालनेसे कीचड़ नीचे बैठ जाता है और ऊपरसे जल निर्मल हो जाता है, उसही प्रकार कर्मोंके उपशम होनेसे (उदय न होनेसे) जीवके परिणाम जो विशुद्ध हो जाते हैं उनको औपशमिकभाव कहते हैं। कर्मोंके सर्वथा नाश होनेसे जो आत्माके अत्यंत शुद्धभाव होते हैं, उनको क्षायिकभाव कहते हैं । सर्वघाती कर्मोंके उदयाभावीक्षय होने (फल नहीं देकर झड़ जाने) वा उपशम होने तथा

देशघाती कर्मोंके उदय होनेसे जो भाव होते हैं उनको मिश्रभाव अथवा क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। द्रव्यक्षेत्रकालभावरूप निमित्तसे कर्म जो अपना रस (फल) देता है उसको उदय कहते हैं। उन कर्मोंके उदयसे जो आत्माके भाव होते हैं उनको औदयिकभाव कहते हैं। और जिनभावोंमें कर्मोंकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है उन भावोंको पारिणामिकभाव कहते हैं ॥ १ ॥

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

अर्थ—इन पांचों भावोंके (यथाक्रमम्) क्रमसे (द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः) दो नव अठारह इक्कीस और तीन भेद हैं। अर्थात् औपशमिकभाव दो प्रकारके हैं, क्षायिकभाव नवप्रकारके हैं, मिश्रभाव अठारह प्रकारके हैं, औदयिक भाव इक्कीसप्रकारके हैं और पारिणामिक भाव तीन प्रकारके हैं ॥ २ ॥

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

अर्थ—औपशमिकसम्यक्त्व[1] और औपशमिकचारित्र ये दो औपशमिक भावके भेद हैं ॥३॥

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

---

(१) जो मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है। यह सादिमिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा कथन है। अनादिमिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्वके विना पांचप्रकृतियोंके उपशमसे होता है।

अर्थ—(ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि) केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य (च) और चकारसे क्षायिकसम्यक्त्व तथा क्षायिकचारित्र ये नव क्षायिकभाव हैं ॥ ४ ॥

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः
सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥

अर्थ—(ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयः चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः) मति श्रुत अवधि मनःपर्यय ये चार ज्ञान, कुमति कुश्रुत कुअवधि ये तीन अज्ञान (कुज्ञान), चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन अवधिदर्शन ये तीन दर्शन, क्षायोपशमिकदान, क्षायोपशमिकलाभ, क्षायोपशमिकभोग, क्षायोपशमिकउपभोग और क्षायोपशमिकवीर्य ये पांच लब्धि तथा (सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च) वेदकसम्यक्त्व, सरागचारित्र और संयमासंयम (देशव्रत) इसप्रकार अठारह भाव क्षायोपशमिक हैं। ये सब ही भाव, आत्मामें कर्मोंके क्षयोपशमसे होते हैं ॥ ५ ॥

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयता-
सिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

अर्थ—मनुष्यगति देवगति नरकगति और तिर्यंचगति ये ४ गति, क्रोध मान माया लोभ ये ४ कषाय, स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद ये ३ लिङ्ग, मिथ्यादर्शन १, अज्ञान १, असंयम १,

असिद्धत्व १ और पीत पद्म शुक्ल कृष्ण नील कपोत ये ६ लेश्या, इस प्रकार इक्कीस औदयिकभाव हैं ॥ ६ ॥

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

अर्थ—(च) और (जीवभव्याभव्यत्वानि) जीवत्व भव्यत्व अभव्यत्व ये तीन (अन्य द्रव्यसे असाधारण) जीवके पारिणामिक भाव हैं ॥ ७ ॥

इसप्रकार जीवके सब मिलाकर ५३ भाव हैं। अब जीवका लक्षण कहते हैं—

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जीवका (लक्षणम्) लक्षण (उपयोगः) उपयोग है ॥ उपयोग आत्माके चैतन्य स्वभावको कहते हैं। इसीको आत्माका (जीवका) परिणाम परिणमन परिणति वा उपयोग कहते हैं ॥ ८ ॥

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

अर्थ—(सः) वह उपयोग (द्विविधः) मूलभेदसे दो प्रकारका है पहिला ज्ञान दूसरा दर्शन। और फिर वह दो प्रकारका उपयोग क्रमसे (अष्टचतुर्भेदः) आठ और चार प्रकारका

---

१ आठों ही कर्मोंके उदयसे होता है। २ व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्—परस्पर मिली हुई वस्तुओंमें जो उनके भेदज्ञान करानेमें कारण है सो लक्षण है—जैसे अग्निका लक्षण उष्णपना।

है अर्थात् ज्ञानोपयोगके १ मति, २ श्रुत, ३ अवधि, ४ मनःपर्यय, ५ केवल, ६ कुमति, ७ कुश्रुत, और ८ कुअवधि ऐसे आठ भेद हैं और दर्शनोपयोगके १ चक्षुदर्शन, २ अचक्षुदर्शन, ३ अवधिदर्शन, और ४ केवलदर्शन, ऐसे चार भेद हैं ॥ ९ ॥

अब जिनके उपर्युक्त ५३ भाव और उपयोग लक्षण बतलाये, उन जीवोंके भेद कहते हैं—

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

अर्थ—वे जीव (संसारिणः) संसारी (च) और (मुक्ताः) मुक्त अर्थात् सिद्ध ऐसे दो प्रकारके हैं ॥ जो कर्मसहित हैं, कर्मोंके वशीभूत हो नानाप्रकारके जन्ममरण करते हुए संसारमें संसरण[1] वा भ्रमण करते रहते हैं उनको संसारीजीव कहते हैं और जो समस्त कर्मोंको काटकर मुक्त हो गये हैं, उनको मुक्तजीव अथवा सिद्धजीव कहते हैं ॥ १० ॥

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

अर्थ—संसारीजीव समनस्क और अमनस्क दो प्रकारके हैं ॥ जिनके मन होता है उनको समनस्क (सैनी) और जिनके मन नहीं होता है उनको अमनस्क (असैनी) कहते हैं ॥ ११ ॥

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

---

(१) द्रव्यसंसरण क्षेत्रसंसरण कालसंसरण भवसंसरण और भावसंसरण–रूप पांच प्रकारके संसरण वा परावर्तन हैं ।

अर्थ—(संसारिणः) संसारी जीव (त्रसस्थावराः) त्रस और स्थावर दो प्रकारके हैं ॥ द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंको त्रस कहते हैं और एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं ॥ १२ ॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

अर्थ—(पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः) पृथिवीकायिक[1] अप्कायिक तेजःकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांचप्रकारके जीव (स्थावराः) स्थावर[2] हैं ॥ इनके एक ही स्पर्शन इन्द्रिय होती है । इनके दशप्राणोंमेंसे केवल इन्द्रियप्राण, कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वासप्राण और आयुःप्राण ये चार ही प्राण होते हैं ॥ १३ ॥

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

अर्थ—(द्वीन्द्रियादयः) द्वीन्द्रियादिक जीव (त्रसाः[3]) त्रस हैं ॥ १४ ॥

पञ्चेन्द्रियाणि ॥ १५ ॥

अर्थ—सब इन्द्रियें पांच हैं ॥ १५ ॥

द्विविधानि ॥ १६ ॥

---

१ पृथिवी ही है काय अर्थात् औदारिक शरीर जिनका सो पृथिवीकाय स्थावर जीव हैं । २ जीवविपाकी स्थावर नाम कर्मके उदयसे स्थावर होते हैं । ३ जीवविपाकी त्रसनाम कर्मके उदयसे त्रस होते हैं ।

अर्थ—वे सब इन्द्रियें दो दो प्रकारकी हैं, पहली द्रव्येन्द्रिय और दूसरी भावेन्द्रिय ॥१६

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

अर्थ—(द्रव्येन्द्रियं) द्रव्येन्द्रिय (निर्वृत्त्युपकरणे) निर्वृत्तिरूप और उपकरणरूप दो प्रकारकी है ॥ नाम कर्मके निमित्तसे जो रचनाविशेप हो, उसे निर्वृत्ति कहते हैं और निर्वृत्तिको जो सहायक हो, उसे उपकरण कहते हैं। निर्वृत्ति और उपकरण भी दो दो प्रकारके हैं। एक आभ्यन्तरनिर्वृत्ति और एक वाह्यनिर्वृत्ति। आत्माके प्रदेशोंका इन्द्रियोंके आकाररूप होना सो आभ्यन्तरनिर्वृत्ति है और पुद्गलपरमाणुओंकी इन्द्रियरूप रचना होना सो बाह्यनिर्वृत्ति है। जैसे नेत्रइन्द्रियमें नेत्रइन्द्रियके आकाररूप आत्माके जितने प्रदेश मसूरके समान फैले हैं, वे आभ्यन्तरनिर्वृत्ति हैं और उसमें जितने पुद्गलपरमाणु मसूरके आकारमें परिणत हुए हैं वे बाह्यनिर्वृत्ति हैं। और मसूरके आकाररूप नेत्रेन्द्रियके सफेदभाग, वाफणी, पलकेंआदि बाह्योपकरण हैं और इनरूप जो आत्माके प्रदेश परिणमे हैं वे आभ्यन्तर उपकरण हैं। इसीप्रकार कर्णआदि इन्द्रियोमें भी जानना ॥ १७ ॥

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

अर्थ—(लब्ध्युपयोगौ) लब्धि और उपयोग ये दो (भावेन्द्रियम्) भावेन्द्रिय हैं ॥ जिसके होनेसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें प्रवृत्ति करे ऐसी ज्ञानावरणकर्मकी क्षयोपशमरूप

शक्तिविशेषको लब्धि कहते हैं। और क्षयोपशमलब्धिके निमित्तसे आत्माका विषयोंके प्रति परिणमन होनेसे जो आत्मामें ज्ञान उत्पन्न होता है सो उपयोग है। जैसे—कोई जीव सुनना तो चाहे परन्तु सुननेकी क्षयोपशमरूप शक्ति नही हो, तो वह सुन नहीं सकेगा। इसलिये ज्ञानका कारण होनेसे लब्धिको इन्द्रिय मानी है और उपयोग इन्द्रियका फल वा कार्य है, इसलिये कार्यमें कारणका उपचार किया गया है। अथवा इन्द्रियें जिसप्रकार आत्माके परिचयकी हेतु हैं, उसीप्रकार उपयोग भी मुख्य हेतु है, इसकारण उपयोगको इन्द्रिय कहा है ॥ १८ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥

अर्थ—स्पर्शन (त्वचा), रसन (जीभ), घ्राण (नासिका), चक्षु (नेत्र), और श्रोत्र (कान) ये पांच[1] इन्द्रियोंके नाम है ॥ १९ ॥

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

अर्थ—(स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः) स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पांच(तदर्थाः) उक्त पांचों इन्द्रियोंके विषय वा ज्ञेय हैं। स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श[2] अर्थात् छूना है। रसना इन्द्रियका विषय रस[3] अर्थात् स्वाद लेना है। घ्राण इन्द्रियका विषय सुगन्धि दुर्गन्धि सूंघना है।

---

१ ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं–ज्ञान करानेमें सहायक होनेसे। २ शीत, उष्ण, रूक्ष, सचिक्कण, कठोर, कोमल हलका और भारी ये स्पर्शके आठ भेद हैं। ३ तिक्त, कटु, कषायला, खट्टा और मीठा ये पांच रस हैं।

नेत्र इन्द्रियका विषय वर्ण[1] अर्थात् रंग है और श्रोत्रइन्द्रियका विषय शब्दोंका सुनना है ॥२०॥

श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥

अर्थ—(अनिन्द्रियस्य) मनका विषय (श्रुतम्) श्रुतज्ञानगोचर पदार्थ हैं ॥ २१ ॥

वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥

अर्थ—(वनस्पत्यन्तानाम्) वनस्पतिकाय है अन्तमें जिनके उन जीवोंके अर्थात् पृथिवीकायिक अप्कायिक अग्निकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पांचों प्रकार जीवोंके (एकम्) पहली स्पर्शन इन्द्रिय ही है । अर्थात् ये पांच एकमात्र स्पर्शन इन्द्रियके धारक एकेन्द्रिय जीव (स्थावरजीव) हैं ॥ २२ ॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

अर्थ—(कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनां) लट चिउंटी भौंरा मनुष्य आदिकके (एकैकवृद्धानि) क्रमसे एक एक इन्द्रिय बढ़ती हुई है ॥ अर्थात् लट (गिंडाड़) वगैरहके स्पर्शन और रसन दो इन्द्रियें हैं । चिउंटी वगैरहके स्पर्शन रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियें हैं । भौंरा-आदि जीवोंके स्पर्शन रसन घ्राण और नेत्र ये चार इन्द्रियें हैं । तथा मनुष्य देव नारकी और गौ आदि पशुओंके पांचों ही इन्द्रियें हैं ॥ २३ ॥

---

1 श्वेत पीत नील अरुण और कृष्ण ये पांच वर्ण हैं ।

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

अर्थ—(**समनस्काः**) जो मनसहित हैं वे जीव (**संज्ञिनः**) संज्ञी हैं ॥ जिन्हें अपने हित अहितका अथवा गुण दोषादिका विचार हो तथा शिक्षा क्रिया आलापके ग्रहण करनेरूप संज्ञा हो, उनको संज्ञीपंचेन्द्रिय कहते हैं ॥ २४ ॥

शंका—यदि जीव सदा मनसे ही हितादिकी प्राप्तिरूप प्रत्येक कर्म कर सकता है, तो विग्रहगतिमें जहां मन नही हैं, वहा नूतन शरीरकेलिये किसप्रकार गमन करता है। यह शंका दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं,—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

अर्थ—(**विग्रहगतौ**)[1] नया शरीर धारण करनेके लिये जो गति अर्थात् गमन होता है, उसमें (**कर्मयोगः**) कार्माणयोग है अर्थात् कार्माणयोगसे ही जीव एक गतिसे दूसरी गतिमें गमन करता है ॥ २५ ॥

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

अर्थ—(**गतिः**) जीव और पुद्गलोंका गमन (**अनुश्रेणि**) आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीका अनुसरण करके होता है। श्रेणीको (प्रदेशोंकी पंक्तिको) छोड़कर विदिशारूप गमन नहिं

---

१ विग्रहाय शरीराय गतिर्गमनम्—नवीन शरीरके वास्ते जो गति है सो विग्रहगति कहाती है।

होता है ॥ भावार्थ—मृत्यु होनेपर नवीन शरीर धारण करनेके लिये जो जीवका गमन होता है, वह आकाशके प्रदेशोंकी श्रेणीमें ही होता है अन्य प्रकार नहीं । तथा जब पुद्गलका शुद्ध परमाणु एकसमयमें चौदहराजू गमन करता है, तब वह भी श्रेणीरूप गमन करता है । अन्य अवस्थामें श्रेणीरूप गमन नहीं है ॥ २६ ॥

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—(जीवस्य) मुक्तजीवकी गति (अविग्रहा) वक्रतारहित (मोड़रहित) सीधी होती है अर्थात् मुक्त जीव एक समयमें सीधा सात राजू ऊंचा गमन करता हुआ सिद्धक्षेत्रमें चला जाता है—इधर उधर नहीं मुड़ता है ॥ २७ ॥

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

अर्थ—(च) और (संसारिणः) संसारी जीवकी गति (प्राक्चतुर्भ्यः) चार समयसे पहिले २ (विग्रहवती[1]) विग्रहवती वा मोड़ेवाली है ॥ भावार्थ— संसारी जीवकी गति एक समयमें तथा दो तीन समयमें भी होती है अर्थात् संसारी जीव दूसरे समयमें एक मोड़ा तीसरे समयमें दूसरा मोड़ा और चौथे समयमें अर्थात् चौथे समयसे पहिले तीसरा मोड़ा लेकर किसी न किसी स्थानमें नवीन शरीर धारण कर लेता है ॥ २८ ॥

---

१ यह विग्रहशब्द वक्रता मोड़ वा टेढ़का वाचक है ।

एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥

अर्थ—(अविग्रहा) मोड़ारहित गति (एकसमया) एक समय मात्र ही होती है ॥ इसको ऋजुगति भी कहते हैं ॥ २९ ॥

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥

अर्थ—विग्रहगतिवाला जीव (एकं) एक समयमें (द्वौ) दो समयमें (वा) तथा (त्रीन्) तीनसमयमें (अनाहारकः) अनाहारक है ॥ औदारिक वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरोंके और छह पर्याप्तियोंके योग्य पुद्गलवर्गणाके ग्रहणको आहार कहते हैं । जीव जबतक ऐसे आहारको ग्रहण नहीं करता है, तबतक उसे अनाहारक कहते हैं । जीव बहुतसे बहुत विग्रहगतिमें तीन समयतक रहता है । चौथे समयमें शरीरपर्याप्तिको ग्रहण करके आहारक हो जाता है ॥ ३० ॥

सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

अर्थ—(जन्म) नवीन शरीरका धारण (सम्मूर्छनगर्भोपपादा) सम्मूर्च्छन गर्भ और उपपाद ऐसा तीन प्रकारका होता है । अर्थात् संमूर्च्छनजन्म गर्भजन्म और उपपादजन्म

---

१ कालाध्वनोर्व्याप्तौ । १ । ३ । १२१ । शाक० इससे निरन्तर व्यासकाल आधारमें द्वितीया विभक्ति है ।

ऐसे तीन प्रकारका जन्म है ॥ अपने योग्य द्रव्य क्षेत्र काल भावकी विशेषतासे तीन लोकमें भरे हुए चारों ओरके पुद्गल परमाणुओंसे [मातापिताके रजोवीर्यके मिलनेके विना ही] देहकी रचना होनेको **सम्मूर्छनजन्म** कहते हैं । स्त्रीके गर्भाशयमें माताके रज और पिताके वीर्यके संयोगसे जो जन्म होता है, उसे **गर्भजन्म** कहते हैं । और मातापिताके रजोवीर्यके विना देवनारकियोंके स्थानविशेषमें जो जन्म होता है, उसे **उपपादजन्म** कहते हैं ॥ ३१ ॥

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥

अर्थ—(सचित्तशीतसंवृताः) सचित्त शीत संवृत और **(सेतराः)** इनसे उलटी अचित, अशीत (उष्ण), विवृत **(च)** और **(मिश्राः)** मिली हुई अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत इसप्रकार **(एकशः)** क्रमसे **(तद्योनयः)** उन सम्मूर्च्छनादि जन्मोंकी नव योनियें वा उत्पत्तिस्थान हैं ॥ ३२ ॥ योनि दो प्रकारकी हैं, आकारयोनि, और गुणयोनि । उनमेंसे यहांपर गुणयोनिकी अपेक्षा भेद कहे हैं । आकारयोनिके ३ भेद हैं, शङ्खावर्त, कूर्म्मोन्नत, और वंशपत्र । इनमेंसे शङ्खावर्तयोनिमें गर्भ नहीं ठहरता है, कूर्म्मोन्नतयोनिमें तीर्थङ्कर, दो तरहके चक्रवर्ती बलभद्र तथा उनके भाइयोंके सिवाय कोई भी पैदा नही होता, और वंशपत्रयोनिमें बाकीके गर्भ जन्मवाले सब जीव पैदा होते हैं ॥ ३२ ॥

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥

अर्थ—(जरायुजाण्डजपोतानां) जरायुज अंडज और पोत इन तीनप्रकारके जीवोंका (गर्भः) गर्भजन्म है ॥ जो जीव जालके समान मांस और रुधिरसे व्याप्त एक प्रकारकी थैलीसे लिपटे हुए पैदा होते हैं, उनको जरायुज कहते हैं। माताके रुधिर और पिताके वीर्यसे बने हुए नखकी त्वचाके समान कठिनसे गोल २ आवरणको अंडा कहते हैं और अंडेसे जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें अंडज कहते हैं। और जिनके ऊपर जरा वा अंडा कुछ भी आवरण नहीं होता है, माताके उदरसे निकलते ही जो चलने फिरने लगते हैं, उन्हें पोत कहते हैं ॥ ३३ ॥

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

अर्थ—(देवनारकाणाम्) चारप्रकारके देवोंका और नारकी जीवोंका (उपपादः) उपपादजन्म होता है ॥ ३४ ॥

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—(शेषाणां) शेषका अर्थात् गर्भ और उपपात जन्मवालोंसे बाकी रहे हुए संसारी जीवोंका (सम्मूर्च्छनम्) सम्मूर्च्छनजन्म है ॥ ३५ ॥

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

अर्थ—इन सब जीवोंके (शरीराणि) शरीर (औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि) औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस और कार्मण इस तरह पांच प्रकारके होते हैं ॥ स्थूल अर्थात् इन्द्रियोंसे देखने योग्य शरीरको औदारिकशरीर कहते हैं। जिसमें अनेक प्रकारके स्थूल सूक्ष्म हलका भारी इत्यादि विकार होनेकी योग्यता हो, उसे वैक्रियिकशरीर कहते हैं। सूक्ष्म पदार्थके निर्णयके लिये वा संयम पालनेके लिये प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनियोंके जो प्रगट होता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं। जिससे शरीरमें तेज होता है, उसे तैजसशरीर कहते हैं। और ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके समूहको कार्मणशरीर कहते हैं ॥ ३६ ॥

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—(परं परं) औदारिकसे अगले अगले शरीर (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म हैं अर्थात् औदारिकसे वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिकसे आहारक सूक्ष्म है, आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मणशरीर सूक्ष्म है ॥ ३७ ॥ किन्तु—

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—(प्रदेशतः) प्रदेशोंकी अपेक्षा (तैजसात् प्राक्) तैजसशरीरसे पहिले २ के शरीर (असंख्येयगुण) असंख्यात गुणे हैं अर्थात्—औदारिकशरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुणे परमाणु वैक्रियिकशरीरमें हैं और वैक्रियिकशरीरसे असंख्यात गुणे परमाणु आहारकशरीरमें हैं ॥ ३८ ॥

अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥

अर्थ—(परे) शेषके दो शरीर अर्थात् तैजस और कार्मणशरीर (अनन्तगुणे) अनन्तगुणे परमाणुवाले हैं अर्थात् आहारकशरीरसे अनन्तगुणे परमाणु तैजसशरीरमें हैं और तैजससे अनन्तगुणे परमाणु कार्मणशरीरमें हैं ॥ ३९ ॥

अप्रतीघाते ॥ ॥ ४० ॥

अर्थ—और ये दोनों तैजस और कार्मणशरीर अप्रतीघात हैं । अर्थात् अन्य मूर्तिमान् पुद्गलादिकोंसे रुकते नही हैं । जैसे अग्निके परमाणु सूक्ष्मरूप परिणमन होनेके कारण लोहके पिंडमें प्रवेश कर जाते हैं, उसी प्रकार तैजस और कार्मणशरीर भी वज्रमय पटलोंसे नहिं रुकते हैं और न अन्य किसी पदार्थको रोक सकते हैं ॥ ४० ॥

१ यहां प्रदेश शब्दका अर्थ परमाणु है ।

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

अर्थ—ये दोनों शरीर आत्मासे (अनादिसम्बन्धे) अनादि कालसे संबंध रखनेवाले हैं अर्थात् संसारी जीवोंके ये दोनों शरीर नित्य ही साथ रहते हैं (च) और सादि सम्बन्धवाले भी हैं ॥ ४१ ॥

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

अर्थ—ये दोनों शरीर समस्त संसारी जीवोंके होते हैं ॥ ४२ ॥

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्यः ॥ ४२ ॥

अर्थ—(तदादीनि) इन दोनों शरीरोंको आदि लेकर (भाज्यानि) विभाजित किये हुए (एकस्य) एक जीवके (युगपत्) एक साथ (आ चतुर्भ्यः) चार शरीरतक होते हैं ॥ अर्थात् दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण होते हैं। तीन हों तो औदारिक तैजस और कार्मण होते हैं अथवा वैक्रियक तैजस और कार्मण ये तीन भी होते हैं परन्तु ये देव

---

१ जिसके वैक्रियिक होता है उसके आहारक नहीं होता और जिसके आहारक होता है उसके वैक्रियिक नहीं होता है। इसकारण एकसमयमें पांच शरीर होना असंभव है। एक शरीरवाला भी कोई जीव नहीं हैं।

तथा नरक गतिमें ही होते हैं। यदि किसीके एकसाथ चार शरीर हों, तो औदारिक आहारक तैजस और कार्मण होते हैं ॥ ४३ ॥

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—(अन्त्यम्) अंतका कार्मणशरीर (निरुपभोगम्) उपभोगरहित अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा शब्दादिक विषयोंके उपभोगसे रहित है ॥ ४४ ॥

गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—(गर्भसम्मूर्च्छनजम्) जो गर्भजन्म और सम्मूर्च्छनजन्मसे उत्पन्न होता है, सो (आद्यं) आदिका औदारिक शरीर है ॥ ४५ ॥

औपपादिकं वैक्रियिकम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—(औपपादिकम्) जो उपपाद जन्मसे होता है वह (वैक्रियिकम्) वैक्रियिक शरीर है ॥ ४६ ॥

लब्धिप्रत्ययं च ॥ ४७ ॥

अर्थ—वैक्रियिक शरीर (लब्धिप्रत्ययं च) लब्धिसे अर्थात् तपोविशेषरूपऋद्धिप्राप्तिके निमित्तसे भी होता है ॥ ४७ ॥

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

अर्थ—(अपि) तथा (तैजसम्) तैजस शरीर भी लब्धिप्रत्यय[1] अर्थात् ऋद्धिप्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥

अर्थ—(आहारकं) आहारक शरीर (शुभं) शुभ है अर्थात् शुभ कार्यको पैदा करता है (विशुद्धं) विशुद्ध है अर्थात् विशुद्ध कर्मका कार्य है (च) और (अव्याघाति) व्याघातरहित[2] है तथा (प्रमत्तसंयतस्य एव) प्रमत्तसंयत मुनिके ही होता है ॥ ४९ ॥

नारकसम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

अर्थ—(नारकसम्मूर्च्छिनः) नारकी और सम्मूर्च्छन जीव (नपुंसकानि) नपुंसक होते हैं ॥ ५० ॥ किन्तु—

न देवाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—(देवाः)चार प्रकारके देव नपुंसक (न) नहीं हैं अर्थात् देवोंमें स्त्रीवेद और पुरुषवेद दो ही होते हैं नपुंसकवेद नहीं होता है ॥ ५१ ॥

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

---

१ तैजस शरीर दो प्रकारका है–भिन्नतैजस और अभिन्नतैजस । इनमेंसे यहां भिन्नतैजस ही ग्रहण करना चाहिये । अभिन्नतैजस संसारीमात्रके होता है । २ अढाईद्वीपमें ही ।

अर्थ—(शेषाः) नारकी देव और सम्मूर्छनोंके अतिरिक्त गर्भज तिर्यंच और मनुष्य (त्रिवेदाः) तीनों वेदवाले अर्थात् पुरुष स्त्री और नपुंसक होते हैं ॥ ५२ ॥

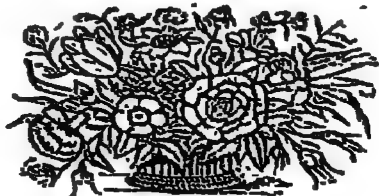
औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

अर्थ—(औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषः) देव, नारकी, चरमोत्तमदेह[1] और असंख्यातवर्षकी आयुवाले भोगभूमिके जीव (अनपवर्त्यायुषः[2]) परिपूर्ण आयुवाले होते हैं। अर्थात् किसी भी कारणसे न्यून आयु होकर उनकी अकालमृत्यु नहीं होती है ॥५३॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

---

१ अन्तकी उत्कृष्ट देह धारण करनेवाले अर्थात् उसी भवमें मोक्षजानेवाले तीर्थंकरादिक । २ अपवर्त्य–घटनेयोग्यका है । नहीं घटने योग्य है आयु जिनका सो अनपवर्त्यायुष है ।



अथ तृतीयोध्यायः प्रारभ्यते ।

जीवपदार्थके कथनमें उसके निजतत्त्व बतलाये जा चुके । अब उसके रहनेके स्थान जो तीन लोक हैं उनमेंसे पहिले अधोलोकका वर्णन करते हैं;—

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥

अर्थ—(रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाः) रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये () सात (भूमयः) भूमियें हैं और (अधोऽधः) क्रमसे एकके नीचे दूसरी, दूसरीके नीचे तीसरी इसप्रकार नीचे २ (घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः) तीन वातवलय और आकाशके आश्रय स्थिर हैं अर्थात् समस्त भूमियें घनोदधि

१ इस सूत्रमें जो 'वात' शब्द आया है, वह व्याकरणके एक नियमके अनुसार समस्यन्त है । दो 'वात' शब्दोंका समास होकर उनमेंसे एकका लोप हो गया है । " वातश्च वातश्च वातौ " । इससे घनाम्बुवात (घनोदधिवात) और घनवात समझना और 'घन' शब्द सामान्य है, इसलिये उसका विशेष तनुवात भी समझना । इस तरह 'घनाम्बुवात' पदसे घनोदधिवात घनवात और तनुवात ये तीनें वातवलय समझना ।

वातवलयके आधार हैं, घनोदधिवातवलय घनवातवलयके आधार हैं, घनवातवलय तनुवातवलयके आधार है और तनुवातवलय आकाशके आधार है और आकाश अपने ही आधार है ॥ १ ॥

विशेष—रत्नप्रभा नामकी पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजनकी मोटी है । उसके तीन विभाग हैं । उनमेंसे १६००० योजन मोटा ऊपरका **खरभाग** है । उसमें चित्रा वज्रा वैडूर्य इत्यादि एक एक हजार योजनकी मोटी १६ पृथिवी हैं। इनमेंसे ऊपर नीचेकी एक एक हजार योजनकी दो पृथिवी छोड़कर बीचकी १४ हजार योजन मोटी और एकराजू लंबी चौड़ी पृथिवीमें किंनर किंपुरुष महोरग गंधर्व यक्ष भूत और पिशाच इन सात प्रकारके व्यंतर देवोंके तथा नागकुमार विद्युत्कुमार सुपर्णकुमार अग्निकुमार वातकुमार स्तनितकुमार उदधिकुमार द्वीपकुमार दिक्कुमार इन नव प्रकारके भवनवासी देवोंके निवासस्थान हैं । खरभागके नीचे चौरासी हजार योजन मोटा **पंकभाग** है । उसमें असुरकुमार और राक्षसोंके निवासस्थान हैं और पंकभागके नीचे ८०००० अस्सी हजार योजन मोटा **अब्बहुलभाग** है, उसमें प्रथम नरक है । उसके नीचे एक एक राजूका अन्तराल छोड़कर शर्कराप्रभादि ६ पृथिवी हैं । उन सबमें ही नारकियोंके रहनेके बिल अर्थात् निवासस्थान हैं ।

---

१ रत्नप्रभादिक पृथिवियोंके नाम गुणोंके अनुसार हैं रूढी नहीं हैं । रूढी नाम धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी है । २ यहां एक योजन २००० कोशका समझना चाहिये ।

वे बिल कौन २ सी पृथिवीमें कितने २ हैं, यह बतलानेके लिये सूत्रकार कहते हैं,—

**तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैक-
नरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥**

अर्थ—(तासु) उन रत्नप्रभादि सातों पृथिवियोंमें (यथाक्रमं) क्रमसे (त्रिंशत्पञ्च-विंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि) तीसलाख, पच्चीसलाख, पन्द्रहलाख, दश लाख, तीनलाख, पांचकम एकलाख (च) और (पञ्च एव) पांच ही नरक हैं। अर्थात् प्रथम पृथिवीमें तीसलाख, दूसरी पृथिवीमें पच्चीस लाख, तीसरीमें पंद्रह लाख, चौथीमें दश लाख, पांचवींमें तीन लाख, छट्ठीमें पांच कम एक लाख और सातवीमें पांच ही नरक हैं॥ ये नरक (बिले) गोल त्रिकोण चौकोण इत्यादि अनेक प्रकारके हैं और उनमें कई एक संख्यात योजनके और कई एक असंख्यात योजनके लंबे चौड़े हैं। बिलोंके अंतरालमें चारों ओर प्रत्येक बिलके पृथिवीस्कंध हैं। जैसे ढोलको पृथिवीमें गाड़ देनेसे चारों तरफ पृथिवी रहती है और भीतर पोल रहती है, उसीप्रकारसे पृथिवीस्कन्धोंके बीचमें ढोलके भीतरकी पोलके समान बिले होते हैं ॥ २ ॥

नारकानित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

अर्थ—(नारकाः) नारकी जीव (नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः) सदा ही अशुभतर लेश्यावाले, अशुभतर परिणामवाले, अशुभतर देहके धारक, अशुभतर वेदनावाले और अशुभतर विक्रिया करनेवाले होते हैं। निरन्तर अशुभ कर्मका उदय रहनेके कारण उनके परिणामादि सदा अशुभ ही रहते हैं ॥ ३ ॥

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

अर्थ—नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दुःख उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थात् कुत्तोंकी तरह निरंतर परस्पर लड़ते झगड़ते रहते हैं ॥ ४ ॥

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

अर्थ—(च) तथा वे नारकी जीव (प्राक्चतुर्थ्याः) चौथे नरकसे पहिले अर्थात् पहिले दूसरे तीसरे नरक पर्यन्त (संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाः) अंबावरीष जातिके संक्लिष्ट परिणामवाले असुरोंके द्वारा भी दुःखी किये जाते हैं ॥ अर्थात् जिसप्रकार इस लोकमें अनेक अज्ञानी पुरुष मेंढ़े भैंसे हाथियोंको मद्य पिलाकर परस्पर लड़ाते है और उनकी हारजीतसे

१ नरान् जीवान् काययतीति नरकास्तत्रभवाः नारकाः। जिसके स्पर्श करनेसे जीव रोने चिल्लाने लग जाते हैं वे नरक हैं। और उनमें जो पैदा होते हैं, सो नारक कहाते हैं। २ उदीरित—किया हुआ। ३ 'उदीरित-दुःखाः' दिया गया है, दुःख जिनको ऐसे।

आनंद मानते हैं वा तमाशा देखते हैं, उसीप्रकार तीसरे नरक तकके नारकी जीवोंको, दुष्ट कौतुकी देव अवधिज्ञानसे उनके पूर्व वैरोंका स्मरण करा कराके परस्पर लड़ाते तथा दुःखित करते रहते हैं और आप तमाशा देखते हैं ॥ ५ ॥

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

अर्थ—(तेषु) उन नरकोंमें रहनेवाले (सत्त्वानां) नारकी जीवोंकी (परा) उत्कृष्ट बड़ीसे बड़ी (स्थितिः) आयु (एकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा) पहिले नरकमें एक सागरकी, दूसरे नरकमें तीन सागरकी, तीसरे नरकमें सात सागरकी, चौथे नरकमें दश सागरकी, पांचवेंमें सत्तरह सागरकी, छट्ठेमें बाईस सागरकी और सातवें नरकमें तेतीससागरकी है ॥ ६ ॥

अब मध्यलोकका वर्णन करते हैं.—

जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

अर्थ— इस चित्रा पृथिवीवर (जम्बूद्वीपलवणोदादयः) जम्बूद्वीपादिक तथा लवणसमुद्रादिक (शुभनामानः) उत्तम २ नामवाले (द्वीपसमुद्रा) द्वीप और समुद्र हैं ॥

विशेष—सबके बीचमें जम्बूद्वीप है, उसके चारों तरफ लवणसमुद्र है, उसके चारों तरफ

धातुकीखंड द्वीप है, उसके चारों तरफ कालोदधि समुद्र है, उस (कालोदधि समुद्र) के चारों ओर पुष्करवर द्वीप है और उसके चारों ओर पुष्करवर समुद्र है। इसीप्रकार एक दूसरेको घेरे हुए अन्तके स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यन्त असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं ॥ ७ ॥

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

अर्थ—प्रत्येक द्वीपसमुद्र (वलयाकृतयः) गोल चूड़ीके आकार (पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः) पहिले २ द्वीप तथा समुद्रको घेरे हुए (द्विर्द्विर्विष्कंभाः) एक दूसरेसे दुगुणे २ विस्तारवाले हैं॥ अर्थात् जंबूद्वीपसे दुगुणी चौड़ाईका लवणसमुद्र है, लवणसमुद्रसे द्विगुणा धातुकी द्वीप है, धातुकी द्वीपसे द्विगुण कालोदधि समुद्र है, और कालोदधि समुद्रसे द्विगुणा पुष्करवरद्वीप है। इसी प्रकार अगले २ द्वीपसमुद्र दुगुणे २ हैं ॥ ८ ॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥

अर्थ—(तन्मध्ये) उन सब द्वीप समुद्रोंके बीचमें (मेरुनाभिः) सुमेरु पर्वत है नाभि[1] जिसकी ऐसा और (वृत्तः) गोलाकार तथा (योजनशतसहस्रविष्कम्भः) एक लाख योजन लंबा चौड़ा (जम्बूद्वीपः) जम्बूद्वीप है ॥ जंबूद्वीपकी परिधि तीन लाख

---

१ सबके बीचमें सुमेरु पर्वत है, इसलिये उसको नाभिकी उपमा दी गई है।

सोलह हजार दोसौ सत्ताईस योजन, तीन कोश, एकसौ अठाईस धनुप, तेरह अंगुलसे कुछ अधिक है। यहां भी दो हजार कोशका योजन समझना चाहिये ॥ ९ ॥

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

अर्थ—इस जम्बूद्वीपमें (भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः) भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात (क्षेत्राणि) क्षेत्र हैं ॥ १० ॥

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निपि-
धनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

अर्थ— (तद्विभाजिनः) उक्त सातों क्षेत्रोंको विभाग करनेवाले (पूर्वापरायताः) पूर्वसे पश्चिम तक लंबे (हिमवन्महाहिमवन्निपिधनीलरुक्मिशिखरिणः) हिमवान् महा-हिमवान्, निपिध, नील, रुक्मि और शिखरी ये छह (वर्षधरपर्वताः) वर्षधरनामके पर्वत हैं॥ इस भरतक्षेत्र और हैमवत क्षेत्रके बीचमें हिमवान् पर्वत है, जिसको हिमाचल भी कहते हैं। इसीप्रकार सातों क्षेत्रोंके बीचमें छह पर्वत हैं, जो पट्कुलाचल कहलाते हैं ॥ ११ ॥

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

---

१ इस सूत्रके अन्तमें जो 'मय' शब्द है, उसके अर्थ दो हो सकते हैं, एकसे यह मालूम होता है कि, वे

अर्थ—हिमवान् पर्वत सुवर्णमय अर्थात् पीतवर्णका है, महाहिमवान् सफेद चांदीके समान रंगवाला है, तीसरा निषिधपर्वत ताये सुवर्णके समान है, चौथा नीलपर्वत वैडूर्यमय अर्थात् मयूरके कंठके समान नीले रंगका है, पांचवां रुक्मिपर्वत चांदी सदृश शुक्लवर्ण है और छट्ठा शिखरीपर्वत सोनेके समान पीत वर्णका है ॥ १२ ॥

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥

अर्थ—(मणिविचित्रपार्श्वाः) जिनके पार्श्वभाग अर्थात् पसवाड़े नानाप्रकारके रंगवाले और प्रभावाले मणियोंसे विचित्र हो रहे हैं और (उपरि मूले) ऊपर, नीचे (च) तथा मध्यमें जो (तुल्यविस्ताराः) एकसे चौड़े दीवालके समान हैं, ऐसे वे छहों पर्वत हैं ॥ १३ ॥

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहापुण्डरीकपुण्डरी-
का ह्रदास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥

अर्थ—(तेषाम्) उन पर्वतोंके (उपरि) ऊपर (पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेशरिमहा-पुण्डरीकपुण्डरीकाः) पद्म महापद्म तिगिंछ केशरी महापुंडरीक और पुंडरीक ये छह (ह्रदाः) ह्रद अर्थात् सरोवर हैं ॥ भावार्थ—हिमवन्पर्वतपर पद्म नामका ह्रद है, महाहिमवनपर महापद्म

पर्वत, सोने चांदी आदिके हैं और दूसरेसे यह कि वे सोने चांदी आदिके रंगोंके समान रंगवाले हैं। इन दोनों अर्थोंमेंसे हमारी समझमें दूसरा अर्थ लेना चाहिये। सर्वार्थसिद्धि टीकासे भी ऐसा ही अर्थ प्रगट होता है।

हैं, निषिधपर तिगिंछ है, नीलपर केशरी है, रुक्मीपर महापुंडरीक है और शिखरीपर्वतपर पुंडरीक ह्रद है ॥ १४ ॥

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः ॥ १५ ॥

अर्थ—इनमेंसे (प्रथमः) पहिला (ह्रदः) तालाव (योजनसहस्रायामः) पूर्वसे पश्चिम तक एक हजार योजन लंबा है और (तदर्द्धविष्कम्भः) उससे आधा पांचसौ योजन उत्तर दक्षिण तक चौड़ा है ॥ १५ ॥

दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥

अर्थ—इस पद्महृदकी गहराई दश योजनकी है ॥ १६ ॥

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥

अर्थ—(तन्मध्ये) उसके बीचमें (योजनं) एक योजनका लंबा चौड़ा (पुष्करम्) कमल है ॥ १७ ॥

तद्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥

अर्थ—(तद्विगुणद्विगुणाः) उस पहिले तालाव और कमलसे दुगुने दुगुने लंबे चौड़े अगले अगले (ह्रदाः) तालाव (च) और (पुष्कराणि) कमल हैं ॥ भावार्थ—पद्मह-

दसे दूना महापद्म ह्रद है और महापद्मसे दुगुणा तिगिंछ ह्रद है । इन तीनों ह्रदोंके बराबर ही
उत्तर तरफके तीनों पर्वतोंके तीनों ह्रद हैं तथा तीनों ह्रदोंके कमलोंके बराबर कमल हैं ॥१८॥

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः
पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥ १९ ॥

अर्थ—(तन्निवासिन्यः) उक्त छहों कमलोंमें रहनेवाली (श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः) श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी नामकी छह (देव्यः) देवियें हैं जो कि (पल्योपमस्थितयः) एक पल्यकी बराबर आयुवाली और (ससामानिकपरिषत्काः) सामानिक[1] परिषत्क जातिके देवोंसहित निवास करतीं हैं । भावार्थ— सरोवरके ये ऊपर कहे हुए कमल रत्नोंके बने हुए हैं और उनकी कर्णिकाओंमें अतिशय उज्वल महल बने हुए हैं, जिनमें ये श्री ह्री आदि छह देवियां रहती हैं । सरोवरोंमें चारों ओर इन कमलोंकी आधी ऊंचाईके और भी अनेक रत्नमयी कमल हैं जिनमें रत्नमयी महल हैं और उनमें देवियोंके परिवारके सामानिक और परिषत्क जातिके देव रहते हैं ॥ १९ ॥

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारी-

---

१ समाने भवः—जो एकसे ऐश्वर्यके धारणकरनेवाले हों, वे सामानिक हैं। परिषदि प्रधानाः—सभामें जो प्रधान हों, वे परिषत्क अर्थात् समासद कहाते हैं ।

नरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥

अर्थ—(तन्मध्यगाः) उक्त सातों क्षेत्रोंमें वहनेवाली (गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः) गंगा, सिंधु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये चौदह (सरितः) नदियें हैं जो उक्त छहों सरोवरोंमेंसे निकली हुई हैं॥ इनमेंसे पहिले पद्मह्रद और छट्ठे पुण्डरीक ह्रदमेंसे तीन तीन अर्थात् आदि अंतकी छह नदियें निकलीं हैं और बीचके चार ह्रदोंसे दो दो नदियें निकली हैं। सो भरतक्षेत्रमें गंगा और सिंधु, हैमवतमें रोहित् और रोहितास्या, हरिक्षेत्रमें हरित् और हरिकांता, विदेहक्षेत्रमें सीता और सीतोदा, रम्यकक्षेत्रमें नारी और नरकांता, हैरण्यवतक्षेत्रमें सुवर्णकूला और रूप्यकूला, और ऐरावत क्षेत्रमें रक्ता और रक्तोदा इसप्रकार दो दो नदियें एक एक क्षेत्रमें वहती हैं॥ २० ॥

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥

अर्थ—एक एक क्षेत्रमें जो दो दो नदियें वहती हैं, उन (द्वयोः द्वयोः) दो दो नदियोंके ७ युगलोंमेंसे (पूर्वाः) पहिली पहिली नदियां (पूर्वगाः) पूर्व समुद्रमें जानेवाली हैं। भावार्थ—गंगा रोहित् हरित् सीता नारी सुवर्णकूला और रक्ता ये ७ नदियें पूर्वके समुद्रमें जाकर मिलतीं हैं ॥ २१ ॥

शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥

अर्थ—(तु)और (शेषाः) शेषकी सात नदियें अर्थात् सिंधु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तोदा ये ७ नदियें (अपरगाः) पश्चिमके समुद्रमें जाकर मिलती हैं ॥ २२ ॥

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥ २३ ॥

अर्थ—(गङ्गासिन्ध्वादयः) गंगा सिंधु आदिक (नद्यः) नदियें (चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृताः) चौदह चौदह हजार नदियोंके परिवार सहित हैं । अर्थात् गंगामें छोटी २ चौदह हजार नदियें आकर मिली हैं । इसीप्रकार सिन्धुमें भी चौदह हजार नदियें मिली हैं । रोहित् रोहितास्याकी परिवारनदियें अट्ठाईस २ हजार हैं । हरित् और हरिकान्ताकी छप्पन्न २ हजार हैं । सीता और सीतोदाकी एक लाख बारह हजार हैं । और इससे उत्तरके तीन क्षेत्रोंकी क्रमसे दक्षिणके तीन क्षेत्रोंके समान परिवारनदियें हैं—अर्थात् नारी नरकान्ता-

---

१ सूत्रमें 'नदी' शब्दका प्रयोग दो बार आनेसे १८ वें सूत्रके 'द्विगुणद्विगुणा' पदकी अनुवृत्ति समझना चाहिये और 'उत्तरा दक्षिणतुल्याः' सूत्रके अनुसार उत्तर दक्षिणकी रचना एकसी समझना चाहिये । इसीसे गंगासिन्धुसे रोहित रोहितास्या आदिकी दूनी २ सहायक नदियां कही हैं ।

की छप्पन्न २ हजार, सुवर्णकूला और रूप्यकूलाकी अट्ठाईस २ हजार और रक्ता रक्तोदाकी चौदह २ हजार पारिवारिक नदियें हैं ॥ २३ ॥

भरतः षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः
षट्‌ चैकोनविंशतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—(भरतः) भरतक्षेत्र (षड्विंशतिपञ्चयोजनशतविस्तारः) दक्षिण उत्तरमें पांचसौ छव्वीस योजन (च) और (योजनस्य) एक योजनके (एकोनविंशतिभागाः) उन्नीसवें भागमेंसे (षट्‌) छह भाग अर्थात् $\frac{6}{19}$ योजन अधिक विस्तारवाला है। कुल विस्तार ५२६$\frac{6}{19}$ योजन है ॥ २४ ॥

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥

अर्थ—(विदेहान्ताः) विदेहक्षेत्र तकके (वर्षधरवर्षाः) पर्वत और क्षेत्र (तद्द्विगुणद्विगुणविस्ताराः) उस भरतक्षेत्रसे दुगुणे दुगणे विस्तारवाले हैं ॥ २५ ॥

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥

अर्थ—(उत्तराः) विदेह क्षेत्रसे उत्तरके तीन पर्वत और तीन क्षेत्र (दक्षिणतुल्याः) दक्षिणके पर्वतों और क्षेत्रोंके बराबर विस्तारवाले हैं ॥ २६ ॥

भरतैरावतयोर्वृद्धि-ह्रासौ षट्समयाभ्यामु-
त्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

अर्थ—(उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीरूप (षट्समयाभ्याम्) छह कालोंसे (भरतैरावतयोः) भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके मनुष्योंकी आयु काय भोगोपभोग सम्पदा वीर्य बुद्ध्यादिकका (वृद्धिह्रासौ) बढ़ना और घटना होता है। भावार्थ—उत्सर्पिणीके छह कालोंमें वृद्धि और अवसर्पिणीके छह कालोंमें दिनोदिन घटी होती जाती है ॥ अवसर्पिणीकालके १ सुखमसुखमा, २ सुखमा, ३ सुखमदुःखमा, ४ दुःखमासुखमा, ५ दुःखमा, और ६ अतिदुःखमा ऐसे भाग हैं। इसीप्रकार उत्सर्पिणीके भी १ अतिदुःखमा, २ दुःखमा, ३ दुःखमसुखमा, ४ सुखमदुःखमा, ५ सुखमा, और ६ सुखमसुखमा ये छह भाग हैं। अवसर्पिणीका काल दश कोड़ाकोड़ी सागरका है और उत्सर्पिणीका भी दश कोड़ाकोड़ी सागरका है। दोनों कालोंको मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है। पहिला **सुखमसुखमा** काल चार कोड़ाकोड़ी सागरका होता है, दूसरा **सुखमा** तीन कोड़ाकोड़ी सागरका, तीसरा **सुखमदुःखमा** दो कोड़ाकोड़ी सागरका, चौथा **दुःखमसुखमा** बियालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरका, पांचवा **दुःखमा**

---

१ सुषमं और दुःषम शब्द भी सुखमदुःखमके स्थानमें प्रायः व्यवहृत किये गये हैं।

इक्कीस हजार वर्षका और छट्ठा अतिदुःखमा भी इक्कीस हजार वर्षका होता है। इनमेंसे पहिले तीन कालोंमें उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमिकीसी रचना व रीति होती है और शेषके तीन कालोंमें कर्मभूमिकीसी होती है। अवसर्पिणीके इन कालोंमें क्रमसे आयुकायादि घटते रहते हैं ॥ २७ ॥

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

अर्थ—(ताभ्यां) उन भरत और ऐरावतके सिवाय (अपराः) अन्य पांच(भूमयः) पृथिवी (अवस्थिताः) ज्योंकी त्यों नित्य हैं अर्थात् इन क्षेत्रोमें वृद्धि ह्रास नहिं होता है ॥ २८ ॥

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

अर्थ—(हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः) हिमवान् क्षेत्रके, हरि क्षेत्रके, और देवकुरु—भोगभूमिके मनुष्य तिर्यञ्च (एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयः) क्रमसे एक दो तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं ॥ २९ ॥

---

(१) यहांपर जो "भूमयः" पद है, उससे यह भी जाना जाता है कि, भरत ऐरावत क्षेत्रकी भूमि भी घटती वढ़ती रहती है; ऐसा राजवार्तिकटीकामें लिखा है।

तथोत्तराः ॥ ३० ॥

अर्थ—(तथा) जैसे दक्षिणके क्षत्रोंकी रचना है, उसीप्रकार (उत्तराः) उत्तरके क्षेत्रोंकी है ॥ अर्थात् हैरण्यवतक्षेत्रकी रचना हैमवतके तुल्य है, रम्यकक्षेत्रकी रचना हरिक्षेत्रके तुल्य है और उत्तरकुरुकी रचना देवकुरुके समान है । इसप्रकार उत्तम मध्यम जघन्यरूप इन तीनों भोगभूमियोंके दो दो क्षेत्र हैं । पांच मेरुसंबंधी तीस भोगभूमियें हैं ॥ ३० ॥

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—(विदेहेषु) पांचमेरुसम्बन्धी पांचों विदेहक्षेत्रोंमें (संख्येयकालाः) संख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य होते हैं ॥ ३१ ॥

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥ ३२ ॥

अर्थ—(जम्बूद्वीपस्य) एक लाख योजन विस्तारवाले जम्बूद्वीपका (नवतिशतभागः) एक सौ नब्बेवाँ भाग $\frac{1}{190}$ (भरतस्य) भरतक्षेत्रका (विष्कम्भः) विस्तार है ॥ ३२ ॥

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३३ ॥

अर्थ—(धातकीखण्डे) धातकीखंड नामके दूसरे द्वीपमें (द्विः) भरतादिक्षेत्र दो दो हैं ॥ यह धातकीखंड लवणसमुद्रको बेढ़े हुए चार लाख योजन चौड़ा है ॥ ३३ ॥

पुष्करार्द्धं च ॥ ३४ ॥

अर्थ—(पुष्करार्द्धं) पुष्करद्वीपके आधे भागमें (च) भी भरतादिक्षेत्र जम्बूद्वीपसे दूने हैं ॥ यह पुष्करद्वीप १६ लाख योजन चौड़ा है और उसके बीचमें एक हजार बाईस योजन चौड़ा मानुषोत्तर पर्वत है । पहिलेके अर्द्ध भागमें दो दो भरतादि क्षेत्रोंकी रचना है, आगे ऐसी रचना नहीं है ॥ ३४ ॥

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥

अर्थ—(मानुषोत्तरात्) मानुषोत्तर पर्वतसे (प्राक्) पहिले अढ़ाई द्वीपमें (मनुष्याः) मनुष्य हैं ॥ मानुषोत्तर पर्वतसे परेके द्वीपोंमें ऋद्धिधारक मुनि वा विद्याधरोंका [सिवाय विग्रह गतिवाले मनुष्योंके] सर्वथा गमन नहीं हैं और न उन द्वीपोंमें मनुष्य होते हैं ॥३५॥

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

अर्थ— मनुष्य (आर्याः) आर्य (च) और (म्लेच्छाः) म्लेच्छ इसतरह दो प्रकारके हैं ॥ जो असि (शस्त्र धारण) मसि (लिखनेका काम) कृषि (खेती) शिल्प वाणिज्य और विद्या (नाचना, गाना सेवा आदि) इन छह कर्मोंसे आजीविका करते हैं, उन्हें आर्य और जो त्रसजीवोंकी संकल्पी हिंसा करके अपना उदरनिर्वाह करते हैं, उन्हें म्लेच्छ कहते हैं । आर्य दो प्रकारके हैं, एक ऋद्धिप्राप्तआर्य और दूसरे अनृद्धिप्राप्तआर्य ।

जिनको बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीण ये सात ऋद्धियां प्राप्त होती हैं, वे सात प्रकारके ऋद्धिप्राप्त आर्य होते हैं और जिनको ऋद्धि प्राप्त न हो, उन्हें अनृद्धिप्राप्तआर्य कहते हैं। अनृद्धिप्राप्त आर्योंके क्षेत्रआर्य जातिआर्य कर्मआर्य चारित्रआर्य और दर्शनआर्य इसप्रकार पांच भेद हैं। इनके और भी उत्तरोत्तर भेद हैं। म्लेछ भी अन्तरद्वीपज और कर्मभूमिज दो प्रकारके हैं ॥ ३६ ॥

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३७ ॥

अर्थ—(अन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः) देवकुरु तथा उत्तरकुरु क्षेत्रको छोड़कर (भरतैरावतविदेहाः) पांच भरत, पांच ऐरावत, और पांच विदेह इसप्रकार पन्द्रह (कर्मभूमयः) कर्मभूमियां हैं ॥ जिनमें असि मसि कृपि वाणिज्य सेवा और शिल्प इन छह कर्मोंकी प्रधानता हो, उनको कर्मभूमि कहते हैं। अथवा जहां सर्वार्थसिद्धि आदिको प्राप्त करानेवाले तथा सातवें नरकको ले जानेवाले शुभ अशुभ कर्मोंका उत्कृष्ट बन्ध होता है तथा तीर्थकरत्वादि उत्तमकर्मप्रकृतियोंका बन्ध होता हो, उनको कर्मभूमि कहते हैं ॥ ३७ ॥

नृस्थिती पराऽवरे त्रिपल्योमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ—(पराऽवरे) उत्कृष्ट और जघन्य (नृस्थिती) मनुष्योंकी स्थिति अर्थात् आयु (त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्ते) तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त्तकी है ॥ अर्थात् उत्कृष्ट आयु तीन

पल्यकी और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्तकी है। मध्यके अनेक भेद हैं। मुहूर्त्तका प्रमाण दो घड़ी वा ४८-मिनट है। जो दो घड़ीके भीतर भीतर हो, उसे अन्तर्मुहूर्त्त कहते हैं ॥ ३८ ॥

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

अर्थ—(च) और (तिर्यग्योनिजानां) तिर्यञ्चोंकी आयु भी उत्कृष्ट तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्तकी है ॥ ३९ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः प्रारभ्यते ।



अब क्रमानुसार ऊर्ध्वलोकका वर्णन करते हुए पहले उनमें रहनेवाले देवोंके भेद बतलाते हैं—

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

अर्थ—(देवाः) देव (चतुर्णिकायाः) चार प्रकारके हैं। अर्थात् देवोंके चार समूह हैं—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥ १ ॥

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥

अर्थ—(आदितः) पहिलेके (त्रिषु) तीन प्रकारके देवोंमें अर्थात् भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्कोंमें (पीतान्तलेश्याः) पीतलेश्या तक अर्थात् कृष्ण नील कापोत और पीत ये चार ही लेश्या हैं ॥ २ ॥

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

अर्थ—(कल्पोपपन्नपर्यन्ताः) कल्पवासीपर्यन्त इन चारों प्रकारके देवोंके क्रमसे (दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः) दश, आठ, पांच, और बारह भेद हैं ॥ अर्थात्—दश प्रकारके भवनवासी, आठ प्रकारके व्यन्तर, पांच प्रकारके ज्योतिष्क और बारह प्रकारके कल्पोपपन्न वा कल्पवासी देव हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-
प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥

अर्थ—इन चारों प्रकारके देवोंमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, और किल्विषिक, ऐसे दश भेद होते हैं। अन्य

---

१ ऊर्ध्वलोकके दो भेद हैं—कल्प और कल्पातीत। और जिनमें वैमानिक देव रहते हैं, वे भी स्थान भेदसे दो प्रकारके हैं। इनमेंसे कल्पोंमें पैदा (उपपन्न) होनेवालोंके ही १२ भेद हैं—कल्पातीतोंके नहीं हैं।

देवोंमें नहिं पाई जावें, ऐसी अणिमामहिमादि अनेक ऋद्धियोंसे जो परम ऐश्वर्यको प्राप्त हो, सो इन्द्र है। जिनके स्थान आयु वीर्य परिवार भोगादिक तो इन्द्रके ही समान हों परन्तु आज्ञा ऐश्वर्य इन्द्रके समान नहीं हो, और जिनको इन्द्र अपने पिता उपाध्यायके समान बड़े गिने, उन्हें **सामानिक** देव कहते हैं। मंत्री पुरोहितके समान शिक्षा देनेवाले, पुत्रके समान प्रियपात्र और जिनको देखने वा वार्त्तालाप करनेसे इन्द्रके मनको आनंद होता है, उनको **त्रायस्त्रिंश** कहते हैं। जो इन्द्रकी बाह्य अभ्यन्तर और मध्यकी तीनों प्रकारकी सभाओंमें बैठनेयोग्य समासद हैं, उन्हें **पारिषद** कहते हैं। इन्द्रकी सभामें जो शस्त्र धारण किये हुए इन्द्रके पीछे खड़े रहते हैं, वे **आत्मरक्ष** हैं। कोटपालके समान जो होते हैं, उन्हें **लोकपाल** कहते हैं। जो पियादा, अश्व, वृषभ, रथ, हस्ती, गन्धर्व, और नर्त्तकीके रूपों-को धारण करते हैं, वे **अनीक** हैं। प्रजाके समान प्रीतिके करनेवाले देवोंको **प्रकीर्णक** कहते हैं। जो सेवकोंके समान हाथी घोड़ा वाहन बनकर इन्द्रादिककी सेवा करते हैं, उन्हें **आभियोग्य** कहते हैं। और दूर रहनेवाले तथा इन्द्रादिक देवोंके सन्मानादिकके अनधिकारी, बाहर खड़े रहनेवाले **किल्विषिक** हैं। इस प्रकार (एकशः) एक एक प्रकारके देवोंके दश दश भेद हैं ॥ ४ ॥

अब जो व्यन्तर और ज्योतिष्कोंमे आठ आठ ही भेद हैं, सो कहते हैं—

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

अर्थ—(व्यन्तरज्योतिष्काः) व्यन्तरदेव और ज्योतिष्कदेव (त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्याः) त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देवोंसे रहित हैं। अर्थात् व्यंतर और ज्योतिष्क देवोंमें ये दो भेद नहीं हैं ॥ ५ ॥

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

अर्थ—(पूर्वयोः) पहिलेके दो समूहोंमें अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरोंके प्रत्येक भेदमें (द्वीन्द्राः) दो दो इन्द्र हैं ॥ भावार्थ—दश प्रकारके भवनवासी देवोंमें चमरवैरोचनादिक वीस इन्द्र हैं और आठ प्रकारके व्यन्तरोंमें किन्नर किंपुरुषादिक सोलह इन्द्र हैं ॥ ६ ॥

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥

अर्थ—(आ ऐशानात्) ऐशानस्वर्गपर्यंतके देवोंमें अर्थात् भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्कोंमें और सौधर्म तथा ऐशान इन दो स्वर्गोंके देवोंमें (कायप्रवीचाराः) शरीरसे कामसेवन होता है, जैसे कि मनुष्यादिकोंमें ॥ ७ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

अर्थ—(शेषाः) बाकी ऊपरके स्वर्गोंके देव (स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः)

स्पर्शकरनेसे, रूपदेखनेसे, शब्द सुननेसे, और विचारमात्रकरनेसे प्रवीचार वा कामसेवन करने वाले हैं। भावार्थ—सानत्कुमार और माहेन्द्र इन दो स्वर्गोंके देवों तथा देवियोंकी कामवासना परस्पर स्पर्श करनेसे ही शान्त हो जाती है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ठ इन चार स्वर्गोंके देवदेवियोंकी कामपीड़ा स्वाभाविकसुंदर और शृंगारादियुक्त रूपको देखनेमात्रसे ही दूर हो जाती है। शुक्र महाशुक्र सतार और सहस्रार इन चार स्वर्गोंके देवदेवांगनाओंकी इच्छा परस्पर गीत व प्रेमभरे मधुर वचनालापादिकसे ही मिट जाती है। और आनत प्राणत आरण अच्युत इन चार स्वर्गोंके देवदेवियोंकी परस्पर मनमें स्मरण करनेसे ही कामवासना नष्ट हो जाती है ॥ ८ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

अर्थ—(परे) सोलह स्वर्गोंसे (कल्प-विमानोंसे) परेके कल्पातीत अर्थात् अच्युत स्वर्गसे ऊपर नव ग्रैवेयकोंके ३०९ विमान और नव अनुदिशविमान तथा पांच अनुत्तर विमान इन सबमें रहनेवाले देव (अप्रवीचाराः) कामसेवनरहित हैं। इनके कामवासना होती ही नहीं ॥ ९ ॥

अब पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए भवनवासियोंके दश भेद कहते हैं;—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः॥१०॥

अर्थ—(भवनवासिनः) भवनवासी देव (असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः) असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ऐसे दश प्रकारके हैं ॥ १० ॥

अब व्यन्तरोंके आठ भेद कहते हैं,—

व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

अर्थ—(व्यन्तराः) व्यन्तरदेव (किन्नरकिम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतापिशाचाः) किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ऐसे आठ प्रकारके हैं ॥ ११ ॥

अब ज्योतिष्क देवोंके पांच भेद कहते हैं,—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—(ज्योतिष्काः) ज्योतिष्कदेव (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (च) तथा (ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाः) ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे, इसतरह पाँच प्रकारके हैं ॥ १२ ॥

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १३ ॥

अर्थ—ये सब ज्योतिष्कदेव (नृलोके) मनुष्यलोकमें अर्थात् अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रोंमें

(मेरुप्रदक्षिणा) सुमेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए (नित्यगतयः) निरन्तर गमन करने-वाले हैं ॥ १३ ॥

तत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥

अर्थ—(कालविभागः) समयका विभाग अर्थात् घड़ी पल दिन रात्रि आदि-का व्यवहार (तत्कृतः) उन गमन करते हुए सूर्य चंद्रमादिकद्वारा सूचित होता है ॥१४॥

वहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥

अर्थ—(वहिः) मनुष्य लोकके बाहर जो सूर्य चन्द्रमादिक ज्योतिष्कदेव हैं, वे (अव-स्थिताः) अवस्थित हैं अर्थात् गमन नही करते हैं-जहांके तहां स्थिर रहते हैं ॥ १५ ॥

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

अर्थ—जिनमें रहनेसे विशेष पुण्यवन्त माने जावें, उन्हें विमान कहते हैं—और उन विमा-

---

१ श्लोकवार्तिकटीकामें युक्तिद्वारा सिद्धि किया है कि, सूर्यादिक ही मेरुके आसपास प्रदक्षिणारूप भ्रमण करते हैं। २ जंबूद्वीपमें दो सूर्य दो चंद्रमा हैं, लवणसमुद्रमें चार सूर्य और चार चंद्रमा हैं। धातुकी द्वीपमें १२ सूर्य और १२ चंद्रमा हैं, कालोदधिसमुद्रपर ४२ सूर्य और ४२ चंद्रमा हैं और पुष्करार्द्धमें ७२ सूर्य और ७२ चंद्रमा हैं। इस प्रकार अढाई द्वीपमें पांच स्थानोंपर एकसौ बत्तीस चंद्रमा और इतने ही सूर्य हैं। ये सब ग्रह नक्षत्र तारादिगण-सहित मेरुके चारों तरफ फिरते हैं। अढाई द्वीपसे बाहरके सूर्य चंद्रमादिके सब ज्योतिष्कविमान स्थिर हैं।

नोंमें जो रहते हैं, वे वैमानिक कहलाते हैं। सब विमान चौरासी लाख सत्तानवे हजार तेईस हैं और एक एक विमान संख्यात असंख्यात योजनोंके विस्तारमें है ॥ १६ ॥

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

अर्थ—उक्त वैमानिक (कल्पोपपन्नः) एक तो कल्पोपपन्न हैं (च) और दूसरे (कल्पातीताः) कल्पातीत हैं। भावार्थ—सौधर्मादि १६ स्वर्गोंके विमानोंमें इंद्रादिक दश प्रकारके देवोंकी कल्पना होती है, इसकारण उन विमानोंकी कल्प संज्ञा है और जो कल्पोंमें उत्पन्न हों, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं। जिन विमानोंमें इन्द्रादिकोंकी कल्पना नहीं है, ऐसे ग्रैवेयकादिकोंको कल्पातीत कहते हैं ॥ १७ ॥

उपर्युपरि ॥ १८ ॥

अर्थ—कल्पोंके जुगल तथा नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, और पांच अनुत्तर ये सब विमान क्रमसे (उपरि उपरि) ऊपर ऊपर हैं ॥ १८ ॥

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रम-हाशुक्रसतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयके-

---

१ 'नव'शब्दको समास नहीं करके जुदा विभक्तिवाला कहा, इसकारण नव अनुदिशका भी सूत्रमें ग्रहण जानना चाहिये।

षु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

अर्थ—वैमानिकदेव (सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रसतारसहस्रारेषु) सौधर्म और ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ, शुक्र और महाशुक्र, सतार और सहस्रार, इन छह युगलोंमें अर्थात् १२ स्वर्गोंमें तथा (आनतप्राणतयोः) आनत और प्राणत इन दो स्वर्गोंमें तथा (आरणाच्युतयोः) आरण और अच्युत नामके युगलमें तथा (नवसु ग्रैवेयकेषु) नव ग्रैवेयकोंके नव पटलोंमें तथा उनसे ऊपरके नव अनुदिशके एक पटलके विमानोंमें तथा उनके ऊपर (विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु) विजय वैजयंत जयंत और अपराजित नामके विमानोंमें (च) और (सर्वार्थसिद्धौ) सर्वार्थसिद्धिमें कल्पोपपन्न और कल्पातीत संज्ञावाले देव रहते हैं ॥ १९ ॥

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥

अर्थ—(स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतः) आयु, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्याकी विशुद्धता, इन्द्रियविषय, और अवधिज्ञानका विषय ये सब विषय ऊपर ऊपरके वैमानिकोंमें (अधिकाः) अधिक अधिक हैं ॥ २० ॥

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

अर्थ—किन्तु—(गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः) गमन[1], शरीरकी उच्चता, परिग्रह और अभिमान इन विषयोंमें ऊपर ऊपरके देव (हीनाः) हीन हैं ॥ २१ ॥

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

अर्थ—(द्वित्रिशेषेषु) दो युगलोंमें तथा तीन युगलोंमें और शेषके समस्त विमानोंमें क्रमसे (पीतपद्मशुक्ललेश्याः) पीत पद्म और शुक्ल लेश्या होती हैं ॥ अर्थात् सौधर्म ऐशानमें पीतलेश्या, सनत्कुमार माहेन्द्र में पीत पद्म दोनों, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव और कापिष्ठमें पद्मलेश्या, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार इन ४ स्वर्गोंमें पद्म शुक्ल दोनों और आनतादि शेष विमानोंमें शुक्ल लेश्या है परन्तु अनुदिश और अनुत्तर इन चौदह विमानोंमें परम शुक्ल लेश्या है ॥ २२ ॥

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

अर्थ—(ग्रैवेयकेभ्यः) ग्रैवेयकोंसे (प्राक्) पहिले २ के १६ स्वर्ग (कल्पाः) कल्पसंज्ञावाले हैं ॥ इनसे आगेके नव ग्रैवेयकादिक कल्पातीत विमान हैं । इनमें रहनेवाले अहमिन्द्र कहलाते हैं अर्थात् वहांका प्रत्येक देव इन्द्रके समान सुख भोगनेवाला होता है ॥ २३ ॥

---

१ विषयोंकी उत्कटवांछाके नहीं होनेसे ऊपर २ के देवोंमें गमनकरनेकी इच्छा कम होती है, गमनशक्ति कम नहीं समझना ।

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

अर्थ—(ब्रह्मलोकालया) जिनका ब्रह्मलोक आलय है अर्थात् जो पांचवें ब्रह्मस्वर्गके अन्तमें रहते हैं, वे (लौकान्तिकाः) लौकान्तिक देव हैं। ये लौकान्तिक देव एक भवावतारी हैं अर्थात् मनुष्यका एक भव धारण करके ही मोक्षको चले जाते हैं। इसकारण जिनके लोक अर्थात् संसारका अन्त होनेवाला है, उन्हें लौकान्तिक देव कहते हैं। ये विषयोंसे विरक्त, ब्रह्मचारी, द्वादशाङ्गके पाठी और अत्यन्त उदासीन होते हैं। तीर्थंकर भगवान्के तपकल्याणके आदिमें ही ये देव आते हैं। तपके सिवाय भगवान्के अन्य उत्सवोंमें ये नहीं आते ॥२४॥

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, और अरिष्ट ये आठ प्रकारके लौकान्तिक देव होते हैं। ये ब्रह्मस्वर्गकी आठों दिशाओंमें रहते हैं ॥ २५ ॥

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

अर्थ—(विजयादिषु) विजयादिक चार विमानोंके देव (द्विचरमाः) द्विचरम होते हैं ॥ अर्थात् मनुष्यके दो जन्म लेकर मोक्षगामी होते हैं। सर्वार्थसिद्धिके देव एक भवावतारी होते हैं ॥ २६ ॥

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

अर्थ—(औपपादिकमनुष्येभ्यः) देव नारकी और मनुष्योंके अतिरिक्त (शेषाः) शेष सब जीव (तिर्यग्योनयः) तिर्यंच हैं । विशेष—इन तिर्यंचोंमेंसे जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव हैं, वे समस्त लोकमें व्याप्त हैं । लोकका कोई भी प्रदेश उनसे खाली नहीं हैं । और बादर स्थूल एकेन्द्रिय जीव पृथिवी जलादिकके आधार हैं । रहे विकलत्रय [द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय] और पंचेन्द्रिय तिर्यंच सो त्रसनालीमें रहते हैं ॥ २७ ॥

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता ॥२८॥

अर्थ—(असुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां) असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष छह कुमारोंकी (स्थितिः) आयु (सागरोपमत्रिपल्योपमार्द्धहीनमिता) क्रमसे एक सागर, तीन पल्य, दो पल्य, और डेड़ पल्यकी है । अर्थात् असुरकुमारोंकी आयु एक सागरकी है, नागकुमारोंकी तीन पल्य है, सुपर्णकुमारोंकी अढाई पल्य है, द्वीपकुमारोंकी दो पल्य है और शेष रहे जो छह कुमार उनकी डेढ़ डेढ़ पल्यकी है । इस प्रकार भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयु है ॥ २८ ॥

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥ २९ ॥

अर्थ—(सौधर्मैशानयोः) सौधर्म और ऐशानस्वर्गके देवोंकी उत्कृष्ट आयु (सागरोपमे अधिके) दो सागरसे कुछ अधिक है ॥ २९ ॥

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

अर्थ—(सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः) सानत्कुमार और माहेन्द्र इन दोनों स्वर्गोंके देवोंकी आयु (सप्त) कुछ अधिक सात सागरकी है ॥ ३० ॥

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

अर्थ—(त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिः) सात सागरसे तीन, सात, नव, ग्यारह, तेरह, और पन्द्रह सागर (तु अधिकानि) अधिक आयु क्रमसे अगले छह जुगलोंमें है । अर्थात् ब्रह्मब्रह्मोत्तरमें दश सागरसे कुछ अधिक, लान्तव और कापिष्ठमें चौदह सागरसें कुछ अधिक, शुक्रमहाशुक्रमें सोलह सागरसे कुछ अधिक, सतार और सहस्रारमें अठारह सागरसे कुछ अधिक, आनत और प्राणतमें बीस सागरकी और आरण तथा अच्युतमें बाईस सागरकी उत्कृष्ट आयु है । सूत्रमें 'तु' शब्द होनेसे सहस्रार पर्यन्तके देवोंकी आयु कुछ कुछ अधिक कही गई है ॥ आगे अधिक नहीं है—पूरे २ सागरोंके परिमाण ही है ॥ ३१ ॥

आरणाच्युतादूर्द्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ ३२ ॥

अर्थ—(आरणाच्युतात्) आरण और अच्युत युगलसे (ऊर्द्ध्वम्) ऊपर (नवसु ग्रैवेयकेषु) नव ग्रैवेयकोंमें, नव अनुदिशोंमें, (विजयादिषु) विजयादिक चार विमानोंमें (च) और

(सर्वार्थसिद्धौ) सर्वार्थसिद्धि विमानमें (एकैकेन) एक एक सागर बढ़ती आयु है ॥ अर्थात् प्रथम ग्रैवेयकमें तेईस सागर, दूसरेमें चौवीस सागर, तीसरेमें पच्चीस सागर, चौथेमें छब्बीस सागर, पांचवेंमें सत्ताईस सागर, छट्ठमें सातवेंमें उनतीस सागर, आठवेंमें तीस सागर, नवमेंमें इकतीस सागर, नव अनुदिशोंमें बत्तीस सागर, और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पांचों विमानोंमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है ॥ ३२ ॥

अपरा पल्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—(अपरा) जघन्य आयु अर्थात् कमसे कम आयु सौधर्म और ईशान स्वर्गमें (**पल्योपमम् अधिकम्**) एक पल्यसे कुछ अधिक है ॥ ३३ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा ॥ ३४ ॥

अर्थ—(**पूर्वा पूर्वा**) पहिले २ युगलकी उत्कृष्ट आयु (**परतः परतः**) अगले अगले युगलोंमें (**अनन्तरा**) जघन्य है ॥ **भावार्थ**—सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें जो कुछ अधिक दो सागरकी उत्कृष्ट आयु है, वही सानत्कुमार और माहेन्द्रमें जघन्य आयु है और जो सानत्कुमार माहेन्द्रकी कुछ अधिक सात सागरकी उत्कृष्ट आयु है, वही अगले ब्रह्म ब्रह्मोत्तर

---

१ सर्वार्थसिद्धि शब्द जुदा कहनेका तात्पर्य यह है कि उसमें उत्कृष्ट ही आयु है जघन्यादिक भेद नहीं हैं।

युगलमें जघन्य है। इसीप्रकार अगले समस्त विमानोंमें समझना चाहिये। सर्वार्थसिद्धिमें जघन्य आयु नहिं होती है ॥ ३४ ॥

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

अर्थ—(च) और इसी प्रकार (द्वितीयादिषु) दूसरे तीसरे आदि नरकोंमें भी (नारकाणां) नारकी जीवोंकी जघन्य आयु है। अर्थात्—रत्नप्रभा पृथिवीमें जो नारकी जीवोंकी एक सागरकी उत्कृष्ट आयु है—वही दूसरे नरकमें जघन्य है और दूसरेकी उत्कृष्ट आयु तीसरेमें जघन्य है। इसीप्रकार सातों नरकोंमें जानना चाहिये ॥ ३५ ॥

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—(प्रथमायां) प्रथम नरकमें सीमन्तक नाम पहिले पटलके नारकी जीवोंकी जघन्य आयु (दशवर्षसहस्राणि) दशहजार वर्षकी है ॥ ३६ ॥

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

अर्थ—(भवनेषु) भवनवासियोंमें (च) भी जघन्य आयु दशहजार वर्षकी है॥३७॥

व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥

अर्थ—(व्यन्तराणां) व्यन्तर देवोंकी (च) भी जघन्यस्थिति दशहजार वर्षकी है३८

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—व्यन्तरोंकी (परा) उत्कृष्ट आयु (पल्योपमम् अधिकम्) एक पल्यसे कुछ अधिक है ॥ ३९ ॥

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

अर्थ—(ज्योतिष्काणां) ज्योतिष्क देवोंकी (च) भी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्यकी है ॥ ४० ॥

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

अर्थ—ज्योतिष्क देवोंकी (अपरा) जघन्य आयु (तदष्टभागः) उस एक पल्यके आठवें भागके बराबर है ॥ ४१ ॥

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—ब्रह्मस्वर्गके अन्तमें रहनेवाले (सर्वेषाम्) समस्त (लौकान्तिकानां) लौकान्तिक देवोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयु (अष्टौ सागरोपमाणि) आठ सागरकी है ॥४२॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

---

(१) यह श्रीपूज्यपादस्वामीकृत सर्वार्थसिद्धिका वार्तिक है । क्योंकि श्रीमट्टाकलङ्कदेवने "अष्टसागरोपमा लौकान्तिकाः" कहा है ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः प्रारभ्यते ।

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

अर्थ—(धर्माधर्माकाशपुद्गलाः) धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल ये चार द्रव्य (अजीवकायाः) अजीवकाय अर्थात् अचेतन और बहुप्रदेशी पदार्थ हैं ॥ १ ॥

द्रव्याणि ॥ २ ॥

अर्थ—उक्त चारों पदार्थ द्रव्य हैं अर्थात् षट् द्रव्योंमेंसे ये ४ द्रव्य हैं । तीन कालमें जो अपने गुणपर्यायोंको द्रवै अर्थात् प्राप्त होय, उसे द्रव्य कहते हैं ॥ २ ॥

जीवाश्च ॥ ३ ॥

अर्थ—(जीवाः) जीव (च) भी द्रव्य है ॥ अर्थात् जीव भी अपने गुणपर्याय सहित हैं, इस कारण इनकी भी द्रव्यसंज्ञा है ॥ ३ ॥

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

अर्थ—इस अध्यायके ३९ वें सूत्रमें कहे हुए कालद्रव्यसहित ये जीव, अजीव, धर्म,

---

(१) 'अजीवाश्च ते काया' इति कर्मधारयसमासः ।

अधर्म, और द्रव्य (**नित्यावस्थितानि**) नित्य हैं अर्थात् ये कभी नष्ट नहीं होते हैं और अवस्थित हैं अर्थात् संख्यामें घटते बढ़ते नहीं हैं। सारांश यह है कि, द्रव्य छह हैं सो कभी सात अथवा पांच नहीं होते हैं। तथा ये सब (**अरूपाणि**) रूपरहित अरूपी हैं ॥

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

अर्थ—किन्तु (**पुद्गलाः**) पुद्गलद्रव्य (**रूपिणः**) रूपी हैं ॥ यद्यपि रूपीशब्दके अनेक अर्थ हैं, परतु यहां परमागमके अनुसार 'मूर्तीक' अर्थ ही समझना चाहिये ॥ ५ ॥

आ आकाशादेकदेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

अर्थ—(**आ आकाशात्**) आकाशपर्यन्त (**एकद्रव्याणि**) एक एक द्रव्य हैं अर्थात् धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और आकाश द्रव्य ये एक एक हैं ॥ जब ये तीनों एक एक हैं, तो जीव, पुद्गल और काल इन तीनों द्रव्योंमें विना कहे भी अनेकता सिद्ध हो जाती है। सो आगमानुसार जीवद्रव्य अनन्तानन्त है। पुद्गलपरमाणु, जीवोंसे अनन्त गुणें हैं और कालद्रव्यके अणु असंख्यात हैं ॥ ६ ॥

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अर्थ—(**च**) और ये धर्म अधर्म और आकाश तीनों ही द्रव्य (**निष्क्रियाणि**) हलन चलनरूप क्रियासे रहित हैं ॥ बाह्याभ्यन्तर कारणसे एक क्षेत्रको छोड़कर अन्यत्र जानेको

क्रिया कहते हैं। सो ये तीनो द्रव्य लोकाकाशमें व्याप्त हैं, अनादि कालसे यहीं हैं, यहीं रहेंगे और क्रियारहित हैं ॥ ७ ॥

असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—(धर्माधर्मैकजीवानाम्) धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य और एकजीवद्रव्यके (असंख्येयाः प्रदेशाः) असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं ॥ जितने क्षेत्रको एक अविभागी (जिससे छोटा और भाग नहीं हो सके) पुद्गलपरमाणु रोकता है, उतने क्षेत्रको एक प्रदेश कहते हैं ॥८॥

आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

अर्थ—(आकाशस्य) आकाशके (अनन्ताः) अनंत प्रदेश हैं। किन्तु लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं ॥ ९ ॥

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

अर्थ—(पुद्गलानाम्) पुद्गलोंके (संख्येया असंख्येयाः) संख्यात असंख्यात (च) और अनन्त प्रदेश हैं ॥ यद्यपि शुद्ध पुद्गल तो अविभागी एक परमाणु एक ही प्रदेशवाला है परन्तु पुद्गलपरमाणुओंमें मिलनविछुरन शक्ति है। इस कारण अनेक स्कन्ध दो दो परमाणुओंके और अनेक तीन तीन चार चार परमाणुओंके हैं। इसी प्रकार संख्यात परमाणुओंके तथा असंख्यात और अनन्त परमाणुओंके भी स्कन्ध हैं।

यहां यदि कोई प्रश्न करै कि—लोकाकाश तो असंख्यप्रदेशी है और पुद्गल अनन्तानन्त-परमाणु हैं तथा स्कन्ध अनन्त परमाणुओंके हैं, फिर वे लोकाकाशमें कैसे समाते होंगे? तो इसका समाधान यह है कि—पुद्गलोंके परिणमन दो प्रकार हैं, एक सूक्ष्मपरिणमन, और दूसरा स्थूलपरिणमन। सो जब इनका सूक्ष्मपरिणमन होता है, तब आकाशके एक ही प्रदेशमें अनन्त परमाणु आ सकते हैं। इसके सिवाय आकाशमें अवकाशदानशक्ति भी है, इसकारण यह दोष नहिं आता है॥ १०॥

नाणोः ॥ ११ ॥

अर्थ—(अणोः) अणु अर्थात् पुद्गलके परमाणुके (न) प्रदेश नहीं हैं अर्थात् परमाणुके एकप्रदेशमात्रता कही है। क्योंकि परमाणुके भेदका (खंडका) अभाव है॥ ११ ॥

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

अर्थ—इन समस्त धर्मादिक द्रव्योंका (लोकाकाशे) लोकाकाशमें (अवगाहः) अवगाह अर्थात् स्थिति है॥ लोकाकाशसे बाहर अलोकाकाशमें अन्य कोई भी द्रव्य नहीं है। जहां तक पांच द्रव्य हैं, वहींतकके आकाशको लोकाकाश कहते हैं॥ १२ ॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

अर्थ—(धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म द्रव्यका अवगाह (कृत्स्ने) समस्त लोकाका-

शमें है । अर्थात् जैसे तिलोंमें सर्वत्र तैल व्याप्त है, उसीप्रकार लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें धर्म अधर्म द्रव्यके प्रदेश व्याप्त हैं ॥ १३ ॥

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

अर्थ—(एकप्रदेशादिषु) लोकके एक प्रदेशादिक भागोंमें (पुद्गलानां) पुद्गल द्रव्योंका अर्थात् एक परमाणु द्विपरमाणु संख्यात असंख्यात और अनन्त परमाणुओंका अवगाह (भाज्यः) विकल्प करना चाहिये । अर्थात् उक्त पुद्गलोंका अवगाह एक, दो आदि प्रदेशोंमें जानना चाहिये ॥ १४ ॥

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

अर्थ—(असंख्येयभागादिषु) लोकके असंख्यात भागादिमें (जीवानां) जीवोंका अवगाह है ॥ १५ ॥

यहां जो जीव एक छोटेसे शरीरमें होता है, वही बड़े शरीरमें कैसे व्याप्त होता है, ऐसा प्रश्न होता है । इस लिये उसके उत्तरमें कहते हैं कि:—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

अर्थ—एक जीवके प्रदेश लोकाकाशके समान हैं, तथापि वे (प्रदीपवत्) दीपककी

रोशनीके समान (प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम्) प्रदेशोंमें संकोचता विस्तारताके होनेसे जैसा आधार (आश्रय शरीर) हो, वैसे ही संकोचविस्ताररूप प्रदेशवाले हो जाते हैं ॥

अब प्रत्येक द्रव्यका उपकार कहते हैं—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

अर्थ—जीवों और पुद्गलोंको (गतिस्थित्युपग्रहौ) गमनरूप और स्थितिरूप करना (धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म द्रव्यका (उपकारः) उपकार है। भावार्थ—जीव और पुद्गलोंके चलनेमें तो धर्मद्रव्य सहकारी है और स्थिति करनेमें अधर्मद्रव्य उपकारी (सहायक) है—प्रेरक नहीं है ॥ १७ ॥

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

अर्थ—समस्त द्रव्योंको अर्थात् जीवादि पांचों द्रव्योंको (अवगाहः) अवकाश देना अर्थात् जगह देना (आकाशस्य) आकाशद्रव्यका उपकार है ॥ १८ ॥

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—(शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः) शरीर वचन मन और श्वासोच्छ्वासादिक बनना (पुद्गलानां) पुद्गलोंका उपकार है। भावार्थ—आहारवर्गणादि पांच तरहके पुद्गलसमूहोंसे शरीर आदि बनते हैं ॥ १९ ॥

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

अर्थ—(च) तथा (सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाः) सुख दुःख, और जीना मरना ये उपकार[1] भी पुद्गलोंके हैं। क्योंकि सुख दुःख जीना मरना भी कर्मरूप पुद्गलोंके कारणसे होता है॥ २० ॥

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

अर्थ—(जीवानाम्) जीवोंका (परस्परोपग्रहः) परस्पर उपकार है। अर्थात् जीव कारणवशासे एक दूसरेका सुख दुःख जीवन मरण तथा सेवा शुश्रूषा आदिसे उपकार करते हैं॥ २१ ॥

वर्त्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

अर्थ—(च) और (कालस्य) कालके (वर्त्तनापरिणामक्रियाः) वर्त्तना, परिणाम, क्रिया तथा (परत्वापरत्वे) परत्व और अपरत्व ये पांच उपकार हैं॥ जो दूसरेको वर्त्तावै, उसको वर्तना कहते हैं। यद्यपि धर्मादिक द्रव्य अपनी पर्यायपूरणार्थ स्वयं वर्तनरूप होते हैं, तथापि उनके वर्त्तनमें जो बाह्य कारण है—जो उनको वर्त्तनारूप करता है, उसको वर्त्तना कहते हैं। द्रव्यका ऐसा पर्याय जो कि एक धर्मका निवृत्तिरूप और दूसरे धर्मका जननरूप

---

[1] उपकार—नाम निमित्तकारणका है। जैसे विष आदि अनिष्ट पुद्गल पदार्थ जीवको दुःख और मरणके निमित्तकारण हैं।

हो, उसको **परिणाम** कहते हैं। जैसे—आत्माके क्रोधादिक और पुद्गलके वर्णादिक
परिणाम हैं। जो हलनचलनादि रूप हो, वह **क्रिया** है। एकदेशसे दूसरे देश तक
जानेको भी **क्रिया** कहते हैं। जैसे, गाड़ीका चलना, मेघोंका चलना। और बड़ा छोटा इस
व्यवहारको **परत्वापरत्व** कहते हैं। जैसे, यह युवा १५ वर्षका है और यह २० वर्षका है
ऐसा जो व्यवहार है, सो परत्वापरत्व है। ये सब वर्तनादिक कालके निमित्तसे होते हैं
और इन्हींसे कालका अस्तित्व सिद्ध होता है॥ २२॥

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः॥ २३॥

अर्थ—(स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः) स्पर्शरसगन्धवर्णवाले (पुद्गलाः) पुद्गल द्रव्य हैं॥
कोमल, कठोर, हलका, भारी, शीत, उष्ण, सचिक्कण और रूक्ष ये आठ प्रकारके स्पर्श हैं। खट्टा,
मीठा, कड़ुवा, कषायला, चिरपरा [तिक्त] ये पांच रस हैं। सुगन्ध दुर्गन्ध ये दो गन्ध हैं।
कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत ये पांच वर्ण [रंग] हैं॥ २३॥

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च॥ २४॥

अर्थ—(च) तथा ये पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया
आतप और उद्योत सहित हैं॥ **भावार्थ**—शब्दादिक भी पुद्गलोंकी एक प्रकारकी अवस्थाएं
हैं। शब्दादिकोंको जो अन्यवादी अन्यरूप मानते हैं, इस सूत्रसे उनका खण्डन होता है २४

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अर्थ—(च) तथा पुद्गल द्रव्य (अणवः) अणु और (स्कन्धाः) स्कन्ध इसप्रकार दो भेदरूप भी हैं ॥ दोसे लेकर संख्यात तथा असंख्यात वा अनन्तपरमाणुओंतकके पिंडको स्कन्ध कहते हैं ॥ २५ ॥

भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

अर्थ—पुद्गलोंके स्कन्ध (भेदसंघातेभ्यः) भेद और संघातसे अर्थात् बाह्य वा आभ्यन्तरिक निमित्तके टूटने वा जुड़नेसे (उत्पद्यन्ते) होते हैं ॥ 'भेदसंघातेभ्यः' यहां बहुवचन देनेसे भेद और संघात दोनोंहीसे स्कन्ध होते हैं, ऐसा समझना चाहिये । दो आदिके संघातसे वा मिलनेसे भी नाना स्कन्ध होते हैं । और बड़े स्कन्धोंके टूटनेसे भी दो परमाणुओंतकके अनेक स्कन्ध होते हैं । तथा इसीप्रकार कितने ही स्कन्धोंका भेद होनेसे और उसी समयमें कितने ही स्कन्धोंके मिलनेसे भी स्कन्ध होते हैं ॥ २६ ॥

भेदादणुः[1] ॥ २७ ॥

अर्थ—(अणुः) अणु (भेदात्) भेदसे ही होता है । संघातसे नहीं होता । यहां यदि कोई

(१) यह नियमार्थ सूत्र है । जो पूर्व विधिसूत्रसे अर्थसिद्धि होनेपर पुनः विधिसूत्र कहा जाता है, वह नियमसूत्र होता है ।

कहै कि, स्कन्ध संघातसे भी होता है, तो उसके समाधानके लिये आगामी सूत्र कहते हैं ॥ २७ ॥

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

अर्थ—(चाक्षुषः) जो नेत्रेन्द्रियगोचर स्कन्ध होता है, वह (भेदसंघाताभ्यां) भेद और संघात दोनोंसे ही होता है। भावार्थ—जिन स्कन्धोंका ज्ञान इन्द्रियोंसे हो सकता है, वे भेद और संघात दोनोंसे होते हैं ॥ २८ ॥

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

अर्थ—(द्रव्यलक्षणम्) द्रव्यका लक्षण (सत्) सत् है। अर्थात् जो सत्‌रूप है, वही द्रव्य है ॥ २९ ॥

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं) उत्पत्ति विनाश और मौजूदगी सहित है, वही (सत्) सत् है ॥ बाह्याभ्यंतर निमित्तके वशसे अपनी जातिको न छोड़कर चेतन वा अचेतन द्रव्यका एक अवस्थासे दूसरी अवस्थारूप होना उत्पत्ति वा उत्पाद है। जैसे सोनेके कुंडलोंका कड़ेरूप होना, उत्पाद है और कुंडलरूप अवस्थाका नष्ट होना, विनाश वा व्यय है। और पीलापन, भारीपन आदि अपनी जातिको लिये हुए दोनों अवस्थामें मौजूद रहना ध्रौव्य

है । इस तरह द्रव्यमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों गुण एकसाथ निरन्तर रहते हैं । जिसमें ये तीनों गुण रहैं, वही सत् और वही द्रव्य है ॥ ३० ॥

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—(तद्भावाव्ययं) जो तद्भावरूपसे अव्यय है, सो ही (नित्यम्) नित्य है । भावार्थ—जो पहिले समयमें था, वही दूसरे समयमें हो, उसे तद्भाव कहते हैं और जो तद्भावसे अव्यय [विनाशरहित] हो, उसीको नित्य जानना चाहिये । अभिप्राय यह कि, पदार्थके भाव वा गुणके नाश नहीं होनेको नित्य कहते हैं । अग्निके उष्णता गुणका बना रहना अग्निका नित्यपना है । सर्वथा नित्य अर्थात् कूटस्थ कोई वस्तु नहीं है । सत्ताकी वा द्रव्यत्वकी अपेक्षा नित्यत्व है, और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यत्व है ॥ ३१ ॥

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

अर्थ—जिसको मुख्य करै, सो अर्पित और जिसको गौण करै, सो अनर्पित है । इन दोनों नयोंसे वस्तुकी सिद्ध होती है। भावार्थ—वस्तुमें अनेक धर्म होते हैं । उनमेंसे वक्ता जिस धर्मको प्रयोजनके वशसे प्रधान करके कहै, वह अर्पित है । और प्रयोजनके विना जिस धर्मको कहनेकी इच्छा नहीं करै, वह अनर्पित है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि, जो धर्म कहा नहीं गया, वह वस्तुमें है ही नहीं । नहीं, वह जरूर है, परन्तु उससमय उसके कहनेकी मुख्यता

नहीं है। क्योंकि वस्तु अनेक धर्मात्मक है। एक ही पुरुषमें पिता, पुत्र, भाई, मामा, भानजा, श्वसुर, जामाता, आदि जो अनेक संबंध विद्यमान हैं--वे सब अपेक्षासे ही सिद्ध होते हैं। कोई कहै यह मामा ही है, सो नहीं है। भानजेकी अपेक्षा मामा हैं--किन्तु भानजेके पिताका वह साला है, और भानजेकी माताका भाई भी है। जिस समय मामा कहा जाता है, उस समय उसका सालापन वा भाईपन गौण वा अनर्पित होता है। इसीप्रकार वस्तुमें भी अनेक धर्म भिन्न २ अपेक्षासे सिद्ध होते हैं॥ ३२॥

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

अर्थ—दो आदि परमाणुओंके स्कन्धोंका (बन्धः) बन्ध (स्निग्धरूक्षत्वात्) स्निग्धत्वसे अर्थात् चिकनाईसे और रूक्षत्वसे अर्थात् रूखेपनसे होता है॥ ३३॥

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—(जघन्यगुणानां) जघन्यगुणसहित परमाणुओंमें बन्ध (न) नहीं होता है॥ परमाणुओंमें स्निंघता वा रूक्षताके अविभागप्रतिच्छेदको गुण कहते हैं। जिस परमाणुमें स्निग्धताका वा रूक्षताका एक अविभागप्रतिच्छेद रह जाय, वह जघन्यगुणवाला है। यहां एक अविभागी प्रतिच्छेदको जघन्य कहा है। जिसमें एक गुण स्निग्धरूक्षताका हो, वह परमाणु द्वितीयादि संख्यात असंख्यात अनन्तगुणसहित स्निग्ध परमाणु वा रूक्षपरमाणुके साथ बंधको प्राप्त नहीं होगा॥३४॥

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—(सदृशानां) सदृशोंका (गुणसाम्ये) गुणकी समानता होनेपर बंध नहीं होता ॥ भावार्थ—पहले कह चुके हैं कि स्निग्ध और रूक्षोंका बंध होता है और अब निषेधप्रकरणमें सदृशोंका अर्थात् स्निग्धका स्निग्धके साथका भी ग्रहण किया है। इससे विदित होता है कि, सदृशोंका भी बंध होता है। इसी लिये निषेध किया है। तथा दो गुण स्निग्धोंका दो गुण रूक्षोंके साथ बंध नहीं होगा और दो गुण स्निग्धोंका दो गुण स्निग्धोंके साथ बंध नहीं होगा। इसी तरह और भी जानना ॥ ३५ ॥

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

अर्थ—(द्व्यधिकादिगुणानां तु) किंतु दो अधिक गुणवालोंका ही बंध होता है। अर्थात् बन्ध तब ही होता है, जब कि एकसे दूसरेमें दो गुण अधिक हों। जैसे चार स्निग्धगुणके साथ पांच सात आदिक स्निग्ध वा रूक्ष गुणवालेका बन्ध नहीं होगा। किंतु चारके साथ छह स्निग्ध वा रूक्ष गुणवालेके साथ ही बंध होगा। इसीप्रकार सात रूक्ष गुणवालेका बंध आठ दश ग्यारह आदि गुणवालेके साथ न होकर नव स्निग्ध वा रूक्ष गुणवालेके साथ ही होगा। इसीप्रकार समस्तबंधोंमें दो दो गुण अधिकवालेका ही बंध होता है ॥ ३६ ॥

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥ ३७ ॥

अर्थ—(च) और (बन्धे) बन्ध अवस्थामें (अधिकौ) अधिक गुणसहित पुद्गल अल्पगुणसहितको (पारिणामिकौ) परिणमावनेवाले होते हैं ॥ अर्थात्—अल्प गुणके धारक स्कन्ध अधिक गुणके स्कन्धरूप हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—(गुणपर्ययवत्) गुणपर्यायवाला (द्रव्यम्) द्रव्य होता है ॥ द्रव्यकी अनेक परिणति होनेपर भी जो द्रव्यसे भिन्न न होय—द्रव्यके साथ नित्य रहै वह तो गुण है । और जो क्रमवर्ती हो, पलटनरूप हो सो पर्याय है । द्रव्यके जितने गुण हैं, वे द्रव्यसे कभी भिन्न नहीं होते । समस्त गुणोंका समूह ही द्रव्य है । द्रव्यकी अनेक पर्यायें (अवस्थायें) पलटते हुए भी गुण कदापि नहीं पलटते । द्रव्यके नित्य साथ रहते हैं । इसीकारण गुणोंको अन्वयी कहते हैं ॥ ३८ ॥

कालश्च ॥ ३९ ॥

अर्थ—और (कालः च) काल भी द्रव्य है ॥ कालद्रव्य लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें एक २ अणुरूप भिन्न भिन्न रहता है । पुद्गलपरमाणुकी अवगाहनाके बराबर ही इसकी अवगाहना है । यह अमूर्त्तीक है । इसके अणु लोकाकाशके प्रदेशोंकी बराबर असंख्यात हैं और

रत्नोंकी राशिके समान भिन्न २ तथा निष्क्रिय हैं । उत्पादव्ययध्रौव्य तथा गुणपर्यायसहित होनेसे यह भी द्रव्य है । इसीको निश्चय कालद्रव्य कहते हैं ॥ ३९ ॥

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

अर्थ—(सः) वह कालद्रव्य (अनन्तसमयः) अनन्तसमयवाला है ॥ यद्यपि वर्त्तमानकाल एक समय मात्र है, परन्तु भूत भविष्यत् वर्त्तमानकी अपेक्षा अनन्त समयवाला है । समय कालकी पर्यायका सबसे छोटा अंश है । इसके समूहसे आवली घटिका इत्यादि व्यवहारकाल होते हैं । यह व्यवहारकाल निश्चयकालद्रव्यकी पर्याय है ॥ ४० ॥

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

अर्थ—(द्रव्याश्रयाः) जो द्रव्यके नित्य आश्रय हों अर्थात् विना द्रव्यके आश्रयके स्वतंत्र नहीं रह सकते हों, तथा (निर्गुणाः) स्वयं अन्य गुणोंसे रहित हों, वे (गुणाः) गुण हैं । जैसे जीवमें अस्तित्व ज्ञानादिक गुण हैं और पुद्गलमें अचेतनत्व रूपादिक गुण हैं ॥ ४१ ॥

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

अर्थ—(तद्भावः) धर्मादिक द्रव्योंके वे जिसरूप हैं, उसी रूप होनेको (परिणामः) परिणाम वा पर्याय कहते हैं ॥ ४२ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः प्रारभ्यते ।

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥ १ ॥

(योगः) योग कहतेहैं ॥ अर्थात्
अर्थ—(कायवाङ्मनःकर्म) काय वचन और मनकी क्रियाको (योगः) योग कहतेहैं ॥ अर्थात् शरीर वचन और मनके द्वारा आत्माके प्रदेशोंका सकंप होना सो योग है । योग तीन प्रकारका
है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशम होनेपर औदारिकादि सात-
प्रकारकी कायवर्गणाओंमेंसे किसी वर्गणाके कारण आत्माके प्रदेशोंका सकंप (चलनरूप) होना सो
काययोग है । वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे प्राप्त हुई वाग्लब्धिकी नि-
कटतासे वचनरूप परिणमनके सन्मुख हुए आत्माके प्रदेशोंका हलनचलनरूप होना सो वाग्योग
[वचनयोग] है । और अभ्यन्तरमें वीर्यान्तराय तथा नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप मनोलब्धिकी
निकटतासे और बाह्यमें पूर्वोक्त निमित्तके अवलंबनसे मनःपरिणामके सन्मुख आत्माके प्रदेशोंका
सकंप होना सो मनोयोग है । भावार्थ—कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका चलनरूप होना
काययोग है, वचनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंका चलना वाग्योग है और मनके निमित्तसे
आत्मप्रदेशोंका चलना मनोयोग है ॥ १ ॥

स आस्रवः ॥ २ ॥

अर्थ—(सः) वह योग ही (आस्रवः) कर्मोंके आगमनका द्वाररूप आस्रव है ॥ जिस प्रकार सरोवरमें जल आनेके द्वार [मोखे] जल आनेके लिये कारण होते हैं, उसीप्रकार आत्माके भी मनोवचनकायरूप योगोंके द्वारा जो शुभअशुभ कर्म आते हैं, उनके आनेमें योग कारण हैं। यहां कारणमें कार्यकी संभावना करके योगोंको ही आस्रव कहा है ॥ २ ॥

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—(शुभः) शुभपरिणामोंसे पैदा हुआ योग (पुण्यस्य) पुण्य प्रकृतियोंका आस्रव करता है और (अशुभः) अशुभ परिणामोंसे उत्पन्न हुआ योग (पापस्य) पापरूप कर्मोंका आस्रव करता है ॥ जीवोंका घात करना, असत्य बोलना, परायाधन हरण करना, ईर्षाभाव रखना इत्यादि अशुभयोग हैं। इनसे पापरूप कर्मोंका ही आस्रव [आगमन] होता है। और जीवोंकी रक्षा करना, उपकार करना, सत्य बोलना, पंचपरमेष्ठीकी भक्ति करना आदि शुभयोग हैं। इनसे पुण्यरूप कर्मोंका आस्रव होता है ॥ ३ ॥

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥

अर्थ—(सकषायाकषाययोः) कषायसहित और कषायरहित जीवोंके क्रमसे (साम्परायिकेर्यापथयोः) साम्परायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव होता है। अर्थात् कषायसहित

जीवोंके साम्परायिक आस्रव होता है और कषायरहित जीवोंके ईर्यापथ नामका आस्रव होता है ॥ जो आत्माको 'कषति' अर्थात् कषते हैं, वा घातते हैं, वे क्रोधादिक कषाय कहलाते हैं। संसारके कारणरूप आस्रवोंको साम्परायिकआस्रव कहते हैं। और स्थितिरहित कर्मोंके आस्रव होनेको ईर्यापथआस्रव कहते हैं ॥ ४ ॥

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥ ५ ॥

अर्थ—(इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः) पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत और पच्चीस क्रिया ये सब (पूर्वस्य) पहिले साम्परायिक आस्रवके (भेदाः) भेद हैं ॥ इनमेंसे पांचइन्द्रियें तो पहिले कही जा चुकी हैं। और क्रोधादिक कषाय तथा हिंसादिक पांच अव्रत आगे कहेंगे। पच्चीस क्रिया कहते हैं,—

देवगुरुशास्त्रकी पूजा भक्ति करना सम्यक्त्वक्रिया है ॥ १ ॥ अन्य कुदेव कुगुरु कुश्रुतकी स्तुति आदि करना मिथ्यात्वक्रिया है ॥ २ ॥ कायादिकसे गमनागमनादिरूप प्रवर्त्तना प्रयोगक्रिया है ॥ ३ ॥ संयमीका अविरतिके सम्मुख होना समादानक्रिया है ॥ ४ ॥ ईर्यापथ अर्थात् गमनके लिये जो क्रिया करना सो ईर्यापथक्रिया है

१ उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली तथा अयोगकेवली गुणस्थानवालोंके ईर्यापथ आस्रव होता है। क्योंकि वहां कषायका उदय नहीं रहता है।

॥ ५ ॥ क्रोधके आवेशसे जो क्रिया हो, सो प्रादोषिकीक्रिया है ॥ ६ ॥ दुष्टताके लिये उद्यम करना कायिकीक्रिया है ॥ ७ ॥ हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकका ग्रहण करना आधिकरणिकी क्रिया है ॥ ८ ॥ अपने वा परके दुःखोत्पत्तिकी जो कारण हो, सो पारितापिकी क्रिया है ॥ ९ ॥ आयुइन्द्रियबलप्राणोंका वियोग करना प्राणातिपातिकीक्रिया है ॥ १० ॥ रागाधिकताके कारण प्रमादी होकर रमणीय रूपका अवलोकन करना दर्शनक्रिया है ॥ ११ ॥ प्रमादके कारण वस्तुके स्पर्शनार्थ प्रवर्त्तना स्पर्शनक्रिया है ॥ १२ ॥ विषयोंके नये नये कारण मिलाना प्रात्ययिकीक्रिया है ॥ १३ ॥ स्त्रीपुरुषों वा पशुओंके बैठने सोने प्रवर्त्तनेके स्थानमें मलमूत्रादि क्षेपण करना समंतानुपातक्रिया है ॥ १४ ॥ विना देखी शोधी भूमिपर बैठना शयन करना आदि अनाभोगक्रिया है ॥ १५ ॥ परके करने योग्य क्रियाको स्वयं करना स्वहस्तक्रिया है ॥ १६ ॥ पापोत्पादक प्रवृत्तिको भला समझना वा आज्ञा करना निसर्गक्रिया है ॥ १७ ॥ आलस्यसे प्रशस्तक्रिया न करना अथवा अन्यके किये हुए पापाचरणका प्रकाश करना विदारणक्रिया है ॥ १८ ॥ चारित्रमोहके उदयसे परमागमकी आज्ञानुसार प्रवर्त्तनेमें असमर्थ होकर अन्यथा प्ररूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है ॥ १९ ॥ प्रमादसे वा अज्ञानतासे परमागमकी उपदेश की हुई विधिमें अनादर करना अनाकांक्षाक्रिया है ॥ २० ॥ छेदने भेदने छोलनेआदिकी क्रियामें तत्परता होना तथा अन्यके आरंभ करनेमें हर्ष

मानना प्रारंभक्रिया है ॥ २१ ॥ परिग्रहकी रक्षाके लिये प्रवृत्ति करना पारिग्राहिकी क्रिया है ॥२२॥ ज्ञानदर्शनादिकमें कपटरूप उपाय करना मायाक्रिया है ॥२३॥ कोई मिथ्यात्वका कार्य करना वा करनेवालेको उस कार्यमें दृढ कर देना मिथ्यादर्शनक्रिया है ॥ २४ ॥ संयमको घात करनेवाले कर्मके उदयसे संयमरूप नहीं प्रवर्त्तना अप्रत्याख्यानक्रिया है ॥ २५ ॥ ये पच्चीसों क्रिया साम्परायिक आस्रव की कारण हैं ॥ ५ ॥

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥

अर्थ—(तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यः) तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण, और वीर्य इनकी विशेषतासे (तद्विशेषः) उस आस्रवमें विशेषता [न्यूनाधिकता] होती है ॥ बाह्याभ्यंतर कारणोंसे बढ़ेहुए क्रोधादिकसे जो तीव्रतारूप परिणाम होते हैं, उनको **तीव्रभाव** कहते हैं। कषायोंकी मंदतासे जो मंदतारूप भाव होते हैं, उन्हें **मंदभाव** कहते हैं। जीवोंके घातमें ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति होनेको **ज्ञातभाव** कहते हैं। मद्यपानादिकसे अथवा इन्द्रियोंको मोहित करनेवाले मदसे असावधानतासे गमनादिकमें प्रवृत्ति करनेको **अज्ञातभाव** कहते हैं। जिसके आधार पुरुषोंका प्रयोजन हो, उसको अधिकरण कहते हैं। और द्रव्यकी शक्तिके विशेषपनेको वीर्य कहते हैं। इन सबकी न्यूनाधिकतासे आस्रवोंमें विशेषता होती है ॥ ६ ॥

अधिकरणोंको स्पष्ट करनेके लिये सूत्र कहते हैं,—

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥ ७ ॥

अर्थ—(अधिकरणं) आस्रवका आधार (जीवजीवाः) जीव और अजीव दोनो हैं ॥ ७ ॥ अब जीवाधिकरणके भेद कहते हैं,—

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमत-
कषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥ ८ ॥

अर्थ—(आद्यं) आदिका जीवाधिकरण जो है सो (संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैः) संरंभ समारंभ आरंभ, मनोयोग वचनयोग काययोग कृत-कारित अनुमोदना और क्रोध मान माया लोभ रूप कषायोंके विशेषसे (एकशः)एकएकके (त्रिः त्रिः त्रिः चतुः) तीन तीन तीन और चार भेद होनेसे १०८ प्रकारका है ॥ अर्थात् संरंभ समारंभ आरंभ इन तीनोंको मनवचनकायरूप तीनों योगोंसे गुणनेसे९,तथा कृत कारित और अनुमोदना इन तीनोंसे गुणनेसे २७, और क्रोध मान माया लोभ इन ४ कषायोंसे गुणनेसे १०८ भेद होते हैं। हिंसादिक करनेके उद्यमरूप परिणाम करना संरंभ है, हिंसादिकके साधनोंका अभ्यास करना, उनकी सामग्री मिलाना, समारंभ है और हिंसादिकमें प्रवृत्त हो जाना, आरंभ है । स्वयं करै, सो कृत है । दूसरेसे करावे, सो कारित है और दूसरेके किये कार्यकी प्रशंसा करै, सो अनुमति वा अनुमोदना है।

जैसे—१ क्रोधकृतकायसंरंभ, २ मानकृतकायसंरंभ, ३ मायाकृतकायसंरंभ, ४ लोभकृतकायसंरंभ, ५ क्रोधकारित कायसंरंभ, ६ मानकारितकायसंरंभ, ७ मायाकारितकायसंरंभ, ८ लोभकारितकायसं-रंभ, ९ क्रोधानुमतकायसंरंभ, १० मानानुमतकायसंरंभ, ११ मायानुमतकायसंरंभ, और १२ लोभानुमतकायसंरंभ; इसप्रकार बारह भेद कायसंरंभके हुए। इसीप्रकार १२ भेद वचनसंरंभके और १२ भेद मनःसंरंभके मिलानेपर संरंभके ३६ भेद हुए। उनमें ३६ भेद समारंभके, और ३६ भेद आरंभके मिलानेसे सब १०८ भेद होते हैं। सूत्रमें जो च शब्द है, वह अंतरंग भेदोंके संग्रहार्थ है। प्रत्येक कषायके अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन ये चार २ भेद हैं। इनसे गुणन करनेसे ४३२ भेद होते हैं। इसप्रकार जीवके परिणामोंके भेदसे आस्रवोंके भी भेद होते हैं ॥ ८ ॥

निर्वर्त्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥ ९ ॥

अर्थ—(**परं**) पर अर्थात् अजीवाधिकरण (**निर्वर्त्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः**) निर्वर्त्तनाधिकरण, निक्षेपाधिकरण, संयोगाधिकरण और निसर्गाधिकरण इसप्रकार चार भेदरूप है। सो (**द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः**) क्रमसे दो, चार, दो और तीनभेदोंवाला है। अर्थात् निर्वर्तनादि अधिकर-

१ मालामें जो १०८ दाने होते हैं, सो इन ही एकसौ आठ आरंभजनित पापास्रवोंको दूर करनेकेलिये अथवा इन १०८ आरंभोंको छोड़कर जाप करनेके लिये बैठना चाहिये, इस अभिप्रायसे होते हैं।

णोंके क्रमसे दो चार दो और तीन भेद हैं। निर्वर्त्तनाधिकरण रचना करने वा उत्पन्न करनेको कहते हैं। यह दो प्रकारका है। शरीरसे कुचेष्टा उत्पन्न करना देहदुःप्रयुक्तनिर्वर्त्तनाधिकरण है। और हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकोंकी रचना करना उपकरणनिर्वर्तनाधिकरण है। निर्वर्तनाधिकरणके मूलगुणनिर्वर्त्तना और उत्तरगुणनिर्वर्त्तना इसप्रकार भी दो भेद हैं। शरीर मन वचन और श्वासोच्छ्वासोंका उत्पन्न करना मूलगुणनिर्वर्तना है। और काष्ठ पुस्त अर्थात् मिट्टी पाषाणादिसे मूर्त्तिआदिकी रचना करना वा चित्रपटादि बनाना उत्तरगुणनिर्वर्त्तनाधिकरण है। निक्षेप-नाम धरने वा रखनेका है। उसके १ सहसानिक्षेपाधिकरण, २ अनाभोगनिक्षेपाधिकरण, ३ दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण और ४ अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण ये चार भेद हैं। भयादिकसे अथवा अन्य कार्य करनेकी शीघ्रतासे पुस्तक, कमंडलु, शरीर, तथा शरीरके मलादिक क्षेपनेको सहसानिक्षेपाधिकरण कहते हैं। शीघ्रता न होनेपर भी यहां जीवजंतु हैं कि नहीं हैं ऐसा विचार नहीं करे और विना देखे ही पुस्तक कमंडलु आदि रखने डालने तथा धरनेको और योग्यस्थानमें न धरकर जहां तहां विना देखे ही रखनेको अनाभोगनिक्षेपाधिकरण कहते हैं। दुष्टतासे तथा यत्नाचारता रहित होके उपकरणादिकके रखने वा डालनेको दुःप्रमृष्टनिक्षेपाधिकरण कहते हैं और विना देखे ही वस्तुका निक्षेपण करना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण है। संयोग-नाम जोड़ने वा मिलानेका है। संयोगाधिकरण भी दो प्रकारका है, एक उपकरणसंयोजना

और दूसरा भक्तपानसंयोजना । शीतस्पर्शरूप पुस्तक कमंडलु शरीरादिकको धूपसे तपी हुई पीछीसे
पोंछना शोधना उपकरणसंयोजना है । और पान भोजनको अन्य पानभोजनमें मिलाना
वा परस्पर मिलाना भक्तपानसंयोजना है। निसर्गाधिकरण तीन प्रकारका है। मनोनिस-
र्गाधिकरण, वाग्निसर्गाधिकरण और कायनिसर्गाधिकरण । दुष्टप्रकारसे मनको प्रवर्त्तना मनो-
निसर्गाधिकरण है। दुष्टप्रकारसे वचनको प्रवर्त्तना वाग्निसर्गाधिकरण है और दुष्टप्रकारसे
शरीरको हिलाना चलाना कायनिसर्गाधिकरण है। ऐसे ग्यारह प्रकारका अजीवाधिकरण
है। जीव और अजीव इन दो अधिकरणोंके आश्रयसे कर्मोंका आगमन (आस्रव) होता है।
अतएव इन दोनों अधिकरणोंके भावोंके ये सब विशेष भेद कहे गये हैं ॥ ९ ॥

ये सामान्य आस्रवके भेद कहे। अब ज्ञानावरणादि विशेष आस्रवोंके कारण कहते हैं,—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥ १० ॥

अर्थ—(तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाताः) ज्ञान तथा दर्शनके विषयमें १
प्रदोष, २ निह्नव, ३ मात्सर्य, ४ अंतराय, ५ आसादन और ६ उपघात ये (ज्ञानदर्शनावरणयोः)
ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रव होनेके कारण हैं॥ कोई पुरुष मोक्षके कारणभूत तत्त्वज्ञान-
की प्रशंसायोग्य कथनी कर रहा हो, परन्तु उसको सुनकर ईर्षाभावसे प्रशंसा नहीं करै, या मौन रक्खै
इसप्रकारके भावको प्रदोष कहते हैं। जो स्वयं शास्त्रोंका जानकार विद्वान् हो और कोई पुरुष जाननेके

लिये पूछै "कि,—अमुक पदार्थका स्वरूप क्या है" तो कह देवै कि, "मैं इस विषयको नहीं जानता" इसप्रकार शास्त्रज्ञानके छिपानेका नाम **निह्नवभाव** है। यह पढ़कर पंडित हो जायगा, तौ मेरी बराबरी करैगा, इस अभिप्रायसे किसीको पढाना नहीं सो **मात्सर्यभाव** है। किसीके ज्ञानके अभ्यासमें विघ्न कर देना, पुस्तक, पाठक, पाठशाला स्थानादिका विच्छेद कर देना, अथवा जिस कार्यसे ज्ञानका [विद्याका] प्रचार होनेवाला हो, उस कार्यका विरोध करना वा बिगाड़ देना **अन्तराय** है। अन्यके द्वारा प्रकाशित किये हुए ज्ञानको वर्जन करना—रोक देना कि—"अभी इस विषयको मत कहो" इत्यादि भावको **आसादन** कहते हैं। और प्रशंसनीय ज्ञानको दूषण लगाना सो **उपघात** है। इन छह कारणोंसे यदि ये ज्ञानके विषयमें हों, तौ ज्ञानावरणकर्मोंका और दर्शनके विषयमें हों, तौ दर्शनावरणकर्मोंका आस्रव होता है। यद्यपि आस्रव हरसमय आयुकर्मके सिवाय सातों कर्मोंका होता है, तथापि स्थिति (कालकी मर्यादा) बंध तथा अनुभाग (फल-देनेकी शक्ति) बंधकी अपेक्षा विशेष कारण कहे गये हैं अर्थात् ऐसे कामोंके करनेसे ज्ञानावरणादि कर्मोंमें स्थिति तथा अनुभागबंध अधिक होता है ॥ १० ॥

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥ ११ ॥

अर्थ—(दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनानि) दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, बध परिदेवन ये (आत्मपरोभयस्थानि) आप करनेसे, अन्यको करनेसे, तथा दोनोंको एकसाथ उत्पन्न

करनेसे, (असद्वेद्यस्य) असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। पीड़ारूप परिणामको दुःख कहते हैं। अपने उपकारक द्रव्यके वियोग [नष्ट] होनेपर परिणाम मलीन करना, चिंता करना, खेदरूप होना, शोक है। निंद्य कार्य करनेसे अपनी निंदा होनेपर पश्चात्ताप करना ताप है। परितापके कारण अश्रुपातपूर्वक विलाप करना वा रोना आक्रंदन है। आयु इन्द्रिय बल प्राणादिकका वियोग करना वध है और ऐसा विलाप करना कि सुननेवालेके चित्तमें दया उत्पन्न हो जाय, सो परिदेवन है। इत्यादि अनेक कारणोंसे असाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है॥ ११॥

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

अर्थ—(भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः) भूतवृत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, (क्षान्तिः) क्षमा, और (शौचम्) शौच (इति) इस प्रकारके भावोंसे (सद्वेद्यस्य) सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। भूतोंके अर्थात् चारों गतियोंके जीवोंके और व्रतियोंके अर्थात् अहिंसादि व्रतोंके धारण करनेवालोंके दुःखको देखकर उन दुःखोंके दूर करनेरूप परिणामोंको भूतव्रत्यनुकम्पा, परके तथा अपने उपकारार्थ धन, औषधि, आहारादिक देनेको दान और दुष्ट कर्मोंको नष्ट करनेमें राग करनेरूप संयमको अथवा रागसहित संयमको सरागसंयम कहते हैं।

१ पांचों इन्द्रियोंको और मनको वश करना संयम है।

आदिशब्दसे संयमासंयम[1], अकामनिर्जरा[2], बालतपादिक[3] समझना चाहिये । इन सबके अनिन्द्य आचरणका नाम योग है । शुभ परिणामोंकी भावनासे क्रोधादि कषायोंका जो अभाव सो क्षमा है और लोभके त्यागको शौच कहते हैं ॥ १२ ॥

मोहनीयकर्म दो प्रकारका है—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय। इनमेंसे पहिले अनन्तसंसारके कारणस्वरूप दर्शनमोहनीयके आस्रवके कारण कहते हैं,—

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥

अर्थ—(केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादः) केवलज्ञानीका, शास्त्रका, मुनियोंके संघका, अहिंसामय धर्मका और देवोंका अवर्णवाद[4] करना (दर्शनमोहस्य) दर्शनमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है ॥ केवलज्ञानीके क्षुधा तृषा आहार नीहारादि दोष कहना, कंबलादि वस्त्र तथा पात्रादि कहना, केवलीका अवर्णवाद है । शास्त्रमें मद्यमांसमधु आदिके सेवनका उपदेश है—वेदनासे पीड़ितके लिये मैथुनसेवन रात्रिभोजनादिक कहा है, इत्यादि दोष लगाना, शास्त्रका

---

१ एक देशत्याग करनेको तथा विषयोंमें विनाप्रयोजन ही त्याग होनेको संयमासंयम कहते हैं । २ अपने अभिप्रायसे त्याग नहीं करके पराधीनतासे भोगोपभोगका निरोध होना अकामनिर्जरा है । ३ तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपसे अनभिज्ञ मिथ्यादृष्टीको बाल और उसके तपको बालतप कहते हैं । ४ जो दोष न हों, उनका भी होना बतलाना—निन्दा करना अवर्णवाद है ।

अवर्णवाद है । देहसे निर्ममत्व निर्ग्रंथ वीतराग मुनीश्वरोंके संघको अपवित्र निर्लेज्जआदि कहना, संघका अवर्णवाद है । अहिंसामय जैनधर्मके सेवन करनेवाले सब असुर होते हैं अथवा होवेंगे, ऐसा कहना धर्मका अवर्णवाद है । और देवोंको मांसभक्षी, सुरापायी, भोजन करनेवाले, तथा मानुषीसे कामसेवनादि करनेवाले कहना, देवोंका अवर्णवाद है । इनसे दर्शनमोहनीय कर्मका आस्रव होता है ॥ १३ ॥

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥

अर्थ—(कषायोदयात्) द्रव्य क्षेत्र काल भावके कारण कषायोंके उदयसे (तीव्रपरिणामः) तीव्रपरिणाम होना (चारित्रमोहस्य) चारित्रमोहनीय कर्मके आस्रवका कारण है ॥ आत्मज्ञानी तपस्वियोंकी निंदा करना, धर्मको नष्ट करना, धर्मसाधनमें अंतराय करना, ब्रह्मचारियोंको ब्रह्मचर्यसे चिगाना, देशव्रती महाव्रतियोंको व्रतोंसे चलायमान करना, मद्यमांसमधुके त्यागीको भ्रम पैदा करना, उत्तम चारित्रमें, तथा प्रतिष्ठा और यशःकीर्त्तिमें दूषण लगाना इत्यादि तीव्रपरिणामोंके कार्य हैं । इन कार्योंसे चारित्रमोहनीय कर्मका आस्रव होता है ॥ १४ ॥

अब आयुकर्मके आस्रवोंमेंसे नरकायुके आस्रवके कारणोंको कहते हैं,—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥ १५ ॥

अर्थ—(बह्वारम्भपरिग्रहत्वं) बहुत आरंभ करना, और बहुत परिग्रह रखना (नारकस्य)

नारकीकी (आयुषः) आयुके आस्रवका कारण है ॥ १५ ॥

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

अर्थ—(माया) चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न हुआ कुटिलस्वभाव (तैर्यग्योनस्य) तिर्यंच योनिकी आयुके आस्रवका कारण होता है ॥ जो मनमें और विचारै, वचनसे और ही कहै और शरीरसे और ही प्रवृत्ति करै, उसको मायाचारी कहते हैं ॥ १६ ॥

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

अर्थ—(अल्पारम्भपरिग्रहत्वं) थोड़ा आरंभ करना और थोड़ा परिग्रह (तृष्णा) रखना, (मानुपस्य) मनुष्य आयुके आस्रवका कारण है ॥ १७ ॥

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

अर्थ—(स्वभावमार्दवं) स्वाभाविक कोमलता (च) भी मनुष्यायुके आस्रवकी कारण है ॥ १८ ॥

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेपाम् ॥ १९ ॥

अर्थ—(च) और (निःशीलव्रतत्वं) दिग्व्रत देशव्रत आदिक सात शील तथा अहिंसादिक पांच व्रतोंका धारण नहीं करना, (सर्वेपां) चारों गतियोंके आस्रवका कारण है ॥१९॥

१ तिर्यग्योनौ भवः तैर्यग्योनम्–अण् ।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥ २० ॥

अर्थ—(सरागसंयमसंयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि) सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप (दैवस्य) देवायुबंधके आस्रवके कारण हैं ॥ कर्मोंके नाश करनेमें तथा व्रतादिक शुभाचरणकरनेमें रागसहित भाव होना सरागसंयम है । त्रसहिंसाका त्यागरूप संयम और स्थावरहिंसाका अत्याग रूप असंयम, इसप्रकार संयमअसंयम दोनों प्रकारके परिणाम होना संयमासंयम है । पराधीनतासे क्षुधा तृषादिकी पीड़ा भोगना, मारना ताड़ना आदि सहना, परितापादि दुःख भोगनेमें मंदकषायरूप भाव होना अकामनिर्जरा है । और आत्मज्ञानरहित तप करना बालतप (अज्ञानतप)है। इनसे तथा हितैषी कल्याण करनेवाले मित्रोंका संबंध करनेसे, धर्मा-यतनोंके सेवनसे, सत्यधर्मके श्रवणसे, प्रशंसासे, और प्रभावनादिकसे, देवायुका आस्रव होता है ॥२०

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

अर्थ—(च) और (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन भी देवायुका कारण है ॥ परन्तु जुदा कहनेसे कल्पवासी देवोंकी आयुके ही आस्रवका कारण है, ऐसा जानना ॥ २१ ॥

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥ २२ ॥

अर्थ—(योगवक्रता) मनवचनकायके योगोंकी वक्रता वा कुटिलता (च) और (विसंवादनं) अन्यथा प्रवृत्ति ये (अशुभस्य नाम्नः) अशुभ नामके आस्रवके कारण हैं ॥२२॥

तद्विपरीतं शुभस्य ॥ २३ ॥

अर्थ—(तद्विपरीतं) योगवक्रता और विसंवादसे विपरीत मनवचनकायकी सरलता और विसंवादका अभाव (शुभस्य) शुभनामकर्मके आस्रवका कारण है ॥ २३ ॥

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥ २४ ॥

अर्थ—(दर्शनविशुद्धिः) १ पंचीस दोपरहित निर्मलसम्यक्त्व[1], (विनयसंपन्नता) २ दर्शन ज्ञान चारित्रमें तथा दर्शन ज्ञान चारित्रके धारकोंमें तथा देव, शास्त्र, गुरु और धर्ममें प्रत्यक्षपरोक्ष विनय करना, कपायका अभावकरके आत्माको मार्दवरूप करना, (शीलव्रतेष्वनतीचारः) ३ अहिंसादि व्रतोंमें तथा उनके प्रतिपालन करनेवाले क्रोधवर्जनादि शीलोंमें निरतिचार प्रवृत्ति, रखना (अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ) ४ निरन्तर तत्त्वाभ्यास करते रहना, ५ संसारके दुःखोंसे भयभीत होना, (शक्तितः त्यागतपसी) ६ शक्तिको नहीं छिपाकर यथाशक्ति दान करना, ७ कायक्लेशादि तप करना, (साधुसमाधिः) ८ मुनियोंके विघ्न और कष्टको दूर करके उनके

१ शंकाकांक्षादि आठ दोप, आठ मद, पट् अनायतन और तीन मूढता ये २५ दोप हैं।

संयमकी रक्षा करना, (वैयावृत्यकरणम्) ९ रोगी साधुमुनिगणोंकी सेवा (टहल) करना, (अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिः) १० अरहंतवीतरागकी भक्ति अर्थात् गुणोंमें अनुरागरूप अर्हद्भक्ति, ११ संघमें दीक्षाशिक्षाके देनेवाले संघाधिपति आचार्योंके गुणोंमें अनुरागरूप आचार्यभक्ति, १२ उपाध्याय महाराजके गुणोंमें अनुरागरूप बहुश्रुतभक्ति, १३ और शास्त्रके गुणोंमें अनुरागरूप प्रवचनभक्ति, (आवश्यकापरिहाणिः) १४ सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकीय क्रियाओंमें हानि नहीं करना, (मार्गप्रभावना) १५ स्याद्वादविद्याध्ययनपूर्वक परमतके अज्ञान अंधकारको दूरकरके जैनधर्मका प्रभाव बढ़ाना व वृद्धिरूपकरना और (प्रवचनवत्सलत्वम्) १६ साधर्मी जीवोंके साथ गऊबछड़ेके समान प्रीति करना; इसप्रकार सोलह भावनाएं (तीर्थंकरत्वस्य) तीर्थंकरप्रकृतिके आस्रवकी कारण हैं ॥ इन सोलह भावनाओंमेंसे कुछ न्यून हों, तो भी तीर्थंकरप्रकृतिका आस्रव होता है । परन्तु उनमें दर्शनविशुद्धि अवश्य चाहिये ॥ २४ ॥

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनो-
द्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥ २५ ॥

अर्थ—(परात्मनिन्दाप्रशंसे) परकी निंदा और अपनी प्रशंसा करना, (च) और (सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने) परके विद्यमान गुणोंका आच्छादन करना और अपने अविद्यमान गुणोंका प्रकाश करना, ये (नीचैर्गोत्रस्य) नीचगोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं ॥ २५ ॥

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥ २६ ॥

अर्थ—(तद्विपर्ययो) नीचगोत्रके आस्रवोंके विपरीत कारण अर्थात् अपनी निंदा, परकी प्रशंसा तथा अपने गुण ढकना, परके गुण प्रकाश करना (च) और (नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ) नीचैं प्रवृत्ति और उत्सेकर्ताका अभाव, ये (उत्तरस्य) उत्तरके अर्थात् उच्चगोत्रकर्मके आस्रवके कारण हैं ॥ २६ ॥

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

अर्थ—(विघ्नकरणम्) परके दान भोगादिकमें विघ्न करना (अन्तरायस्य) अन्तराय कर्मके आस्रवका कारण है ॥ अर्थात् दान देनेमें विघ्न करनेसे दानान्तराय कर्मका आस्रव होता है। परके लाभमें विघ्न डालनेसे लाभान्तराय कर्मका आस्रव होता है। परके वलवीर्य बिगाड़नेसे वीर्यान्तराय कर्मका आस्रव होता है। परके भोगके कारणोंको बिगाड़नेसे भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मका आस्रव होता है ॥ २७ ॥

इसप्रकार आठों कर्मोंके आस्रव होनेके प्रधान २ कारण कहे गये। विशेष कारण असंख्यात हैं ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

---

१ गुणोंमें जो बड़े हों, उनके साथ विनयरूप रहनेको नीचैर्वृत्ति कहा है। २ गुणोंमें आप बड़ा होकर मद नहीं करनेको अनुत्सेक कहते हैं।

अथ सप्तमोऽध्यायः[1] प्रारभ्यते ।



हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

अर्थ—(हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः) हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इनसे (विरतिः[2]) बुद्धिपूर्वक विरक्त होना (व्रतम्) व्रत है ॥ १ ॥

देशसर्वतोऽणुमहती ॥ २ ॥

अर्थ—(देशसर्वतः[3]) एकदेशहिंसादिकोंसे और सर्वप्रकारहिंसादिकोंसे विरक्त होना, क्रमसे (अणुमहती) अणुव्रत और महाव्रत हैं । भावार्थ—इन पांचों पापोंका एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनासे सर्वथा त्याग कर देना महाव्रत है ॥ २ ॥

---

१ सामान्य आस्रवका कथन करके विशेष शुभ आस्रवका कथन करनेके लिये अध्यायका प्रारम्भ करते हैं । जीव, अशुभ शुभ तथा शुद्ध उपयोगवाले इसप्रकार तीन जातिके होते हैं । जबतक शुद्ध अवस्था नहीं हो, तबतक शुभ अवस्था भी ग्राह्य मानी है । २ हटना, न करना । ३ देशाश्च सर्वे चेति देशसर्वं, देशसर्वेभ्यः इति देशसर्वतः । अणु च महच्चेति अणुमहती । देशेभ्यो हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिरणुव्रतम् । सर्वेभ्यो हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतमित्यर्थः ।

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥ ३ ॥

अर्थ—(तत्स्थैर्यार्थं) इन व्रतोंको स्थिर रखनेकेलिये प्रत्येक व्रतकी (पञ्च पञ्च) पांच पांच (भावनाः) भावना हैं। वारंवार चिंतवन करनेको भावना कहते हैं॥ ३ ॥

प्रथम ही अहिंसाव्रतकी भावना कहते हैं,—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥ ४ ॥

अर्थ—(वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि) वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये (पञ्च) पांच अहिंसा व्रतकी भावना हैं। वचनकी प्रवृत्तिको भलेप्रकार रोकना सो वचनगुप्ति है। मनकी प्रवृत्तिको भलेप्रकार रोकना सो मनोगुप्ति है। चार हाथपर्यंत पृथिवीको देखकर यत्नाचारपूर्वक चलना सो ईर्यासमिति है। भूमिको जीवरहित देखकर वस्तुको यत्नाचारपूर्वक उठाना वा रखना वा डालना सो आदाननिक्षेपणसमिति है। आहार पानादिकमें अन्तरंगकी ज्ञानदृष्टिसे वा नेत्रदृष्टिसे देख शोधकर भोजनपान करना सो आलोकितपानभोजन है॥ ४ ॥

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि भाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥

अर्थ—(क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि) क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, भयका

त्याग, हास्यका त्याग (च) और (अनुवीचि भाषणं) पापरहित सूत्रके अनुसार [शास्त्रानुसार] बोलना, ये (पञ्च) पांच सत्यव्रतकी भावना हैं ॥ ५ ॥

शून्यागारविमोचितावासपरोपरो-
धाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पञ्च ॥ ६ ॥

अर्थ—(शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः) खाली घरमें रहना, किसीके छोड़े हुए स्थानमें रहना, अन्यको रोकना नहीं, शास्त्रविहित भिक्षाकी विधिमें न्यूनाधिक नहीं करना, और सधर्मी भाइयोंसे विसंवाद नहीं करना, ये (पञ्च) पांच अचौर्यव्रतकी भावना हैं ॥ ६ ॥

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरता-
नुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥ ७ ॥

अर्थ—(स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः) स्त्रियोंमें प्रीति उत्पन्न करनेवाली कथाओंके सुननेका त्याग, स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको रागसहित देखनेका त्याग, पूर्व कालमें किये हुए विषयभोगोंके स्मरण करनेका त्याग, कामोद्दीपन करनेवाले पुष्टिकर और इन्द्रियोंको लालसा उत्पन्न करनेवाले रसोंका त्याग, और शरीरको शृंगारयुक्त करनेका त्याग, ये (पञ्च) पांच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावना हैं ॥

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥ ८ ॥

अर्थ—(मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि) पांचों इंद्रियोंके स्पर्श रसादिक इष्ट वा अनिष्टरूप पांचों विषयोंमें रागद्वेषका त्याग करना (पञ्च) परिग्रह त्यागव्रतकी पांच भावनाएं हैं। इन पांचों भावनाओंको भावनेसे व्रतोंकी दृढ़ता होती है ॥ ८ ॥

अब अहिंसादि पांचों व्रतोंसे उलटे हिंसादिपापोंमें कैसी भावना रखना चाहिये, यह कहते हैं,—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ ९ ॥

अर्थ—(हिंसादिषु) हिंसादि पांचों पापोंके होनेसे (इह) इस लोकमें तथा (अमुत्र) परलोकमें (अपायावद्यदर्शनम्) राजदण्ड पंचदण्ड आदि आपत्तियां तथा छेदन भेदनआदि निंद्य कष्ट देखना सहना पड़ते हैं— इसप्रकार चिंतवन करै ॥ ९ ॥

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

अर्थ—(वा) अथवा हिंसादि पांच पाप (दुःखं एव) दुःखरूप ही हैं, इसप्रकार भावना करना ॥ यहां कारणमें कार्यका उपचार हिंसादि पापोंको दुःख कहा है ॥ १० ॥

**मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक-
क्लिश्यमानाऽविनयेषु ॥ ११ ॥**

अर्थ—(मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च) मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य

ये चार भावनाएं भी क्रमसे (सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु) सर्वसाधारण जीवोंमें, गुणाधिकोंमें, दुःखियोंमें और अविनयी वा मिथ्यादृष्टियोंमें करनी चाहिये। भावार्थ—सर्व साधारण जीवोंसे मैत्रीभाव रखना मैत्रीभावना है। जो गुणोंमें अधिक हों, उनमें प्रमोद भावना रखना अर्थात् अपनेसे अधिक विद्वानों वा धर्मात्माओंको देखते ही मुखादिकसे प्रसन्नता प्रगट करना तथा हर्षित होकर उनके गुणोंमें अनुरक्त हो भक्ति प्रगट करना प्रमोदभावना है। और रोगादिकसे पीड़ित वा दुःखित जीवोंपर करुणाबुद्धि रखना वा उनके दुःख दूर होने वा करनेका अभिप्राय रखना कारुण्यभावना है। और जो जीव तत्त्वार्थके उपदेशको ग्रहणकरने योग्य नहीं हों, अविनयी हों, उनमें रागद्वेषरहित मध्यस्थ भाव रखना माध्यस्थ्यभावना है ११

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥

अर्थ—(वा) अथवा (संवेगवैराग्यार्थं) संवेग और वैराग्यके लिये (जगत्कायस्वभावौ) जगत् और कायके स्वभावको भी वारंवार चिंतवन करना चाहिये ॥ १२ ॥

अब क्रमसे पांचों पापोंके लक्षण कहते हैं—

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥

अर्थ—(प्रमत्तयोगात्) प्रमादके[1] योगसे (प्राणव्यपरोपणं) भावप्राण वा द्रव्यप्राणों-

---

१ पांच इंद्रिय, चार कषाय, चार विकथा, रागद्वेष और निद्रा इसप्रकार १५ प्रमाद हैं।

का वियोग करना (हिंसा) हिंसा है ॥ कषायसहित भाव होनेको अर्थात् आत्माके रागद्वेषरूप परिणाम होनेको प्रमत्त कहते हैं । आत्माके ज्ञान दर्शनादिक स्वभावोंको भावप्राण कहते हैं । श्वास उच्छ्वासादिकको द्रव्यप्राण[1] कहते हैं ॥ १३ ॥

असदभिधानमनृतम् ॥ १४ ॥

अर्थ—प्रमादके योगसे (असदभिधानं) किसी जीवको दुख देनेवाला अप्रशस्त[2] वचन कहना (अनृतम्) अनृत अर्थात् असत्य है ॥ १४ ॥

अदत्तादानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

अर्थ—लोभादि प्रमादोंके योगसे (अदत्तादानं) दूसरोंके धनधान्यादिपदार्थोंका उनके विना दिये ग्रहण करना (स्तेयम्) स्तेय अर्थात् चोरी है ॥ १५ ॥

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

अर्थ—रागादि प्रमादोंके योगसे (मैथुनं) स्त्रीपुरुषोंकी परस्पर स्पर्शनादिरूप क्रिया (अब्रह्म) अब्रह्म अर्थात् कुशील है ॥ १६ ॥

१ पांच इन्द्रिय, तीन बल (मनोबल, वचनबल और कायबल) आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश द्रव्यप्राण हैं । २ असुहावना वा अहितकारी ।

मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥

अर्थ—(मूर्च्छा) चेतनअचेतनरूप परिग्रहमें ममत्वरूप परिणाम ही (परिग्रहः) परिग्रह है। भावार्थ—बाह्यमें स्त्री पुत्र दासी दास सेवक परिवार गाय भैंस हाथी घोड़ा धन धान्य सुवर्ण रूपा मणि मोती शय्या आसन गृह आभरण वस्त्रादिकोंमें तथा अभ्यन्तरमें रागादिक परिणामोंमें, जो उपार्जन-संस्कारादिकरूप ममत्वभाव होता है, उसे मूर्च्छा कहते हैं। मूर्च्छा ही परिग्रह है ॥ १७ ॥

निःशल्यो व्रती ॥ १८ ॥

अर्थ—(निःशल्यः) जो शल्यरहित है वही (व्रती) व्रती है। माया मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य हैं। मनमें और, वचनमें और, तथा कार्यमें और ही कुछ करे, इसको छल कपट अर्थात् मायाशल्य कहते हैं। तत्त्वार्थका अश्रद्धान सो मिथ्यात्वशल्य है। और आगामी कालमें विषय भोगोंकी बांछा करना सो निदानशल्य है। इन तीन शल्योंके रहते अहिंसादिक पांच व्रत धारण करनेपर भी जीव व्रती नहीं हो सकता है। वास्तवमें व्रतोंको धारण-कर शल्यरहित होनेपर ही व्रती होता है ॥ १८ ॥

अगार्यऽनगारश्च ॥ १९ ॥

अर्थ—व्रती जीव दो प्रकारके होते हैं, एक (अगारी) गृहस्थी (च) और दूसरे (अनगारः) गृहत्यागी साधु ॥ १९ ॥

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अर्थ—(अणुव्रतः) अणुमात्र व्रतवाला अर्थात् जिसके एकदेश यथाशक्ति पांचों पापोंका त्याग हो, वह (अगारी) अणुव्रतीगृहस्थ वा श्रावक कहाता है ॥ द्वीन्द्रियादिक त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग सो प्रथम अहिंसाणुव्रत है। स्नेह वैर मोह रागादिके वशसे असत्य कहनेका त्याग सो द्वितीय सत्याणुव्रत है। दूसरेके विना दिये हुए पदार्थोंके ग्रहणको जिससे कि उनको पीड़ा होती है और राजादिदंड देते हैं, चोरी वा चौर्य कहते हैं और उस चौर्यका छोड़ देना—त्याग करना, तृतीय अचौर्याणुव्रत है। अन्यकी ग्रहण की हुई अथवा नहीं ग्रहण की हुई (अविवाहित) स्त्रीसे रमनेका त्याग सो चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रत है। और धन धान्य दासी दासादिकका परिमाण करके शेषका त्याग करना सो परिग्रहपरिमाण पांचवाँ अणुव्रत है। इसप्रकार पांच अणुव्रतोंका धारी अणुव्रती वा श्रावक कहलाता है ॥ २० ॥

(१) व्रतोंके दो भेद कहे थे—१ अणुव्रत और २ महाव्रत। "जिनके अणुव्रत हैं, सो अगारी हैं" ऐसा कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि जिनके महाव्रत हैं, वे अनगार अर्थात् साधु मुनि हैं।

अब गृहस्थके जो सात शीलव्रत हैं, उन्हें कहते हैं—

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरि-
भोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥ २१ ॥

अर्थ—दिग्विरति, देशविरति, और अनर्थदंडविरति ये तीन गुणव्रत तथा सामायिक,
प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। ये सात व्रत
भी गृहस्थ व्रतीको धारण करने चाहिये, अर्थात् पांच अणुव्रत और सात शीलव्रतोंसहित १२
व्रतका धारी पूर्ण व्रतीश्रावक (व्रतप्रतिमाका धारी) कहलाता है॥ लोभ आरंभादिके त्यागके
अभिप्रायसे पूर्वादि दिशाओंमें किसी नदी ग्राम नगर पर्वतादि तक गमनागमनका स्थान
रख उससे आगे जानेका यावज्जीव त्याग करना सो दिग्व्रत है। और यावज्जीवं किए हुए
दिग्व्रतमेंसे और भी संकोचकर किसी ग्राम नगर गृह मुहल्लेआदि पर्यन्तका गमनागमन रखकर
उससे आगे मास, पक्ष, दिन, दो दिन, चार दिन आदि कालकी मर्यादासे गमनागमनका त्याग
करना सो देशव्रत है। विना प्रयोजन ही जिन कार्योंसे पापारंभ हो, उन कार्योंका त्याग करना सो
अनर्थदंडव्रत है। जिनमें व्यर्थ ही पापबंध होता है, ऐसे अनर्थदंड पांच प्रकारके हैं। १ पापोपदेश,
२ हिंसादान, ३ अपध्यान, ४ दुःश्रुति और ५ प्रमादचर्या। तिर्यंचादिकके क्लेश होनेका, वन-
स्पति छेदनेका, पृथिवीके खोदने आदिका उपदेश देना, पापोपदेश अनर्थदंड है। हिंसाके

उपकरण शस्त्र, फावड़ा, कुदाल, वेड़ी, सांकल, चावुक, विष, आग्नेय, शस्त्र (तोप वन्दूक) आदि पदार्थोंका दान करना हिंसादान अनर्थदंड है। अन्य जीवोंके दोष ग्रहण करनेके भाव, अन्यका धन ग्रहण करनेकी इच्छा, अन्यकी स्त्रीके देखनेकी इच्छा, तथा अन्य मनुष्य तिर्यंचोंके कलह देखनेके भाव, अन्यकी स्त्री पुत्र धन आजीविका वग़ैरहके नष्ट होनेकी चाहना, परका अपमान अपवाद अवज्ञा चाहना इत्यादिका निरंतर ध्यान रखना—चिन्ता करना सो अपध्यान अनर्थदंड है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, अभिमानके वढ़ानेवाले, हिंसाके पोषण करनेवाले, मिथ्यात्वको वढ़ानेवाले, और भंडकथा तथा युद्धकथाके कहनेवाले वेद पुराण स्मृत्यादिग्रन्थोंका श्रवण करना दुःश्रुति नामक अनर्थदंड है। और विना प्रयोजन ही जल वखेरना, अग्नि जलाना, वनस्पति छेदना, भूमि खोदना, आदिको प्रमादचर्यानामा अनर्थदंड कहते हैं। इन पांच प्रकारके अनर्थ दंडोंका त्याग करना अनर्थदंडविरति है। और तीनों संध्याओंके समय समस्त पापयोग क्रियाओंसे रहित होकर सवसे राग द्वेष छोड़ साम्यभावको प्राप्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होना सामायिकव्रत है। प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशीके दिन समस्त आरंभ छोड़कर विषय कषाय और चार प्रकारके आहारोंको त्यागकर धर्मकथाको सुनता हुआ सोलह पहर (पहिले दिनके दुपहरसे लगा, पारनेके दिन दो पहरतक) व्यतीत करै, सो प्रोषधोपवास है। जो एक वार ही भोगे जाते हैं, ऐसे तांबूल भोजन पान सुगंधि आदि पदार्थ उपभोग[1]

1 यहांपर उपभोगका अर्थ एकही वार भोगमें आनेवाली वस्तुओंका है।

हैं, और जो अनेकबार भोगे जाते हैं, ऐसे आभरण वस्त्र गृह बाहन शय्यादि पदार्थ परिभोग
हैं। कुछ भोग परिभोगोंको रखके बाकीका यमनियमरूप त्याग करना उपभोगपरिभोगप-
रिमाण है। और अतिथि पुरुषोंको अर्थात् जो मोक्षके अर्थ उद्यमी संयमी और अंतरंग
बहिरंगमें शुद्ध होते हैं ऐसे व्रती पुरुषोंको शुद्ध मनसे आहार औषधि उपकरण और वस्तिकाका
दान करना **अतिथिसंविभाग** है। इसप्रकार तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये सात
शीलव्रत भी गृहस्थको धारण करने योग्य हैं। इस सूत्रमें जो च शब्द है, वह आगेके सूत्रमें
कहे हुए सल्लेखनारूप गृहस्थधर्मके शामिल करनेके लिये है॥ २१ ॥

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥

अर्थ—(मारणान्तिकीं) मृत्युके समय होनेवाली (सल्लेखनां) सल्लेखनाको (जोषिता)
सेवन करै ॥ मृत्युके समय काय और कषायको क्रमसे कृश करते २ धर्मध्यानमें सावधान
रहकर प्राणोंके त्यागनेको सल्लेखना कहते हैं। इसको सन्यासमरण व उत्तममरण भी कहते
हैं। गृहस्थको यह परमोपकारी शुभगतिका कारणरूप सर्वोत्तम व्रत भी प्रीतिपूर्वक सेवन
करना चाहिये ॥ २२ ॥

१ यावज्जीव त्याग करनेको यम कहते हैं। २ किसी नियत समय तकके लिये त्याग करनेको नियम
कहते हैं।

आगें सम्पूर्ण व्रतोंके अतीचार कहेंगे, जिनमेसे पहिले सम्यक्त्वके पांच अतीचार कहते हैं,—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—(शङ्काकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः) शंका, कांक्षा, विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा, और अन्यदृष्टिसंस्तव ये पांच (सम्यग्दृष्टेः) सम्यग्दर्शनके (अतीचाराः) अतीचार हैं। अरहंत भगवान्के परमागममें पदार्थोंका जो स्वरूप कहा है, उसमें संशय करना अथवा अपने आत्माको ज्ञाता दृष्टा अखंड अविनाशी और पुद्गलसे भिन्न जान करके भी सात प्रकारके भय करना शंका अतीचार है। इसलोक और परलोकसंबंधी भोगोंकी वांछा रखना कांक्षानामा अतीचार है। दुःखी दरिद्री रोगी इत्यादिक क्लेशसम्पन्न जीवोंको देखकर ग्लानि करना वा असमीचीन पदार्थोंको देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा अतीचार है। मिथ्यादृष्टीके ज्ञानचारित्रादि गुणोंको मनसे प्रगट करना प्रशंसा अतीचार है। और मिथ्या-दृष्टीके छते अनछते गुणोंका वचनसे प्रगट करना संस्तवनामका अतीचार है। सम्यग्दृष्टीको ये पांच अतीचार भी छोड़ने चाहिये ॥ २३ ॥

१ व्रतको सर्वथा छोड़ देना सो तो अनाचार है। और व्रतमें दोष लगाना अतीचार है। २ इहलोकभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अरक्षाभय, अगुप्तभय, और अकस्मात्भय ये सातप्रकारके भय हैं।

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥

अर्थ—इसीप्रकार (व्रतशीलेषु) पांच व्रत और सात शीलोंमें भी (यथाक्रमम्) क्रमसे (पञ्च पञ्च) पांच पांच अतीचार हैं, जिन्हें आगेके सूत्रोंमें कहते हैं ॥ २४ ॥

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥ २५ ॥

अर्थ—बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध ये पांच अहिंसाणुव्रतके अतीचार हैं। पशुआदि जीवोंको बांधकर अटका रखना बंधातीचार है। लकड़ी चाबुक आदिसे पीटना वधातीचार है। कान नासिकादि छेदकर दुखी करना छेदातीचार है। बहुत भार (शक्तिसे अधिक मार) लादना अतीभारारोपणातीचार है। और खानपानादि रोककर भूखा प्यासा रखना अन्नपाननिरोधातीचार है ॥ २५ ॥

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥

अर्थ—मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमन्त्रभेद ये पांच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥ परमागमसे विरुद्ध औरका और झूठा उपदेश देना मिथ्योपदेशनामका अतीचार है। स्त्रीपुरुषादिकी गुप्त वार्त्ताओं वा गुप्त आचरणोंको प्रगट करना रहोभ्याख्यान अतीचार है। झूठे खत स्टाम्प वगैरह लिखना कूटलेखक्रिया है। कोई मनुष्य रुपया गहना आदि धरोहर रख जावै और भूलकर थोड़ा मांग बैठे, तो उसको

" हां तुम्हारा जितना हो, उतना ले जाओ " ऐसा कहकर जितना उसने मांगा हो उतना ही देना—पूरा नहीं देना न्यासापहार अतीचार है । और किसीके मुंह आदिकी चेष्टाओंसे उसके मनका गुप्त अभिप्राय जानकर प्रगट कर देना साकारमन्त्रभेद है ॥ २६ ॥

**स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीना-
धिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥**

अर्थ—स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥ चोरी करनेका उपाय बताना स्तेनप्रयोगातीचार है । चोरीकी वस्तु मोल वा विना मोल लेना तदाहृतादान वा चौरार्थादाननामा अतीचार है । राजाकी आज्ञाका लोप करके उसके विरुद्ध चलना विरुद्धराज्यातिक्रम अतीचार है । लेने देनेके बांट, तराजू, गज, पायली, वग़ैरह हीन अधिक रखना हीनाधिकमानोन्मान नामका अतीचार है । अधिक मूल्यकी वस्तुमें थोड़े मूल्यकी वस्तु मिलाकर अधिक मूल्यसे बेचना अथवा घीमें अरवी, चरवी, दूधमें पानी, आरारूट वग़ैरह मिलाकर और असली बताकर बेचना प्रतिरूपकव्यवहार नामका अतीचार है ॥ २७ ॥

**परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागम-
नानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥**

अर्थ—परविवाहकरण, परिगृहीतेत्वरिकागमन, अपरिगृहीतेत्वरिकागमन, अनङ्गक्रीडा और कामतीव्राभिनिवेश ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥ दूसरोंके लड़की लड़कोंका विवाह करना वा कहकर करा देना **परविवाहकरण** नामका अतीचार है । दूसरेकी विवाही हुई व्यभिचारिणी स्त्रीके यहां जाना आना वा उसके साथ देन लेन वचनालापादि करना **परिग्रहीतेत्वरिकागमन** नामका अतीचार है । और जो वेश्यादिव्यभिचारिणी स्त्रियां अपरिगृहीत हैं अर्थात् जिनका कोई स्वामी नहीं है, उनसे देनलेन वार्तालापादि रखना **अपरिगृहीतेत्वरिकागमन** नामका अतीचार है । कामसेवनके अंगोंको छोड़कर अन्य अंगोंसे कामक्रीड़ा करना **अनंगक्रीड़ा** नामका अतीचार है । और अपनी स्त्रीमें कामसेवनकी अत्यन्त अभिलाषा रखना वा कामक्रीड़ामें अतिशय मग्न रहना **कामतीव्राभिनिवेष** नामका अतीचार है ॥ २८ ॥

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥ २९ ॥

अर्थ—क्षेत्रवास्तु, हिरण्यसुवर्ण, धनधान्य, दासीदास और कुप्य इन पांचोंके परिमाणको उल्लंघन करना परिग्रहपरिमाणव्रतके पांच अतीचार हैं ॥ धान्यादि उत्पन्न होनेके स्थानका नाम **क्षेत्र** है । रहनेके घर मकान वगैरह **वास्तु** हैं । रुपया चांदी वगैरहको **हिरण्य** कहते हैं । सोना व सोनेके गहनोंको **सुवर्ण** कहते है । गौ बैल भैंस आदिको **धन** कहते हैं । शालि गेहूं आदि **धान्य** हैं । शरीर व घरकी सेवा करनेवाली स्त्रियां तथा पुरुष **दासीदास** हैं ।

वस्त्र, थाली, लोटा, कपास, चंदनादि कुप्य हैं। इन सबके परिमाण घटा बढ़ा लेनेसे अतीचार होते हैं॥ २९॥

ऊर्द्धाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥ ३० ॥

अर्थ—ऊर्द्धातिक्रम, अधोतिऽक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यंतराधान ये पांच दिग्व्रतके अतीचार हैं॥ परिमाणसे अधिक ऊंचाईके वृक्ष पर्वतादिकोंपर चढ़ना ऊर्द्धातिक्रम है। परिमाणसे अधिक निचाईके कूप वावड़ीमें नीचे उतरना अधोऽतिक्रम है। बिल पर्वतादिकी गुफाओंमें सुरंग आदिमें टेढ़ा जाना तिर्यक्अतिक्रम है। परिमाण की हुई दिशाओंके क्षेत्रसे अधिक क्षेत्र वढ़ा लेना सो क्षेत्रवृद्धि अतीचार हैं। दिशाओंकी की हुई मर्यादाको भूल जाना स्मृत्यंतराधान अतीचार है॥ ३०॥

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥

अर्थ—आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये पांच देशविरति व्रतके अतीचार हैं॥ मर्यादासे वाहरकी वस्तुओंका मंगाना वा किसीको बुलाना आनयन अतीचार है। मर्यादासे वाहरके क्षेत्रमें आप तो न जावै किन्तु सेवकादिको भेजे सो प्रेष्यप्रयोग अतीचार है। मर्यादासे वाहरके क्षेत्रमें तिष्ठते हुए मनुष्यको खांसी वा खंखारने आदिका शब्दकरके अपना अभिप्राय समझा देना शब्दानुपात अतीचार है।

मर्यादासे बाहरके क्षेत्रमें तिष्ठते हुए मनुष्यको अपना रूप दिखाकर हाथके इशारोंसे समझाकर काम करा लेना **रूपानुपात** अतीचार है और मर्यादासे बाहर कंकर पत्थर आदि फेंककर इशारा करना **पुद्गलक्षेप** नामका अतीचार है ॥ २१ ॥

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्या-
धिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥

अर्थ—कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पांच अनर्थदंडव्रतके अतीचार हैं ॥ रागभावकी उत्कटतासे हास्यमिश्रित भंडवचन बोलना **कंदर्पा-तिचार** है । रागोदयकी तीव्रतासे हास्य और अशिष्ट भंड वचन बोलना और कायसे भी निंदनीय क्रिया करना **कौत्कुच्य** अतीचार है । धीठतासें बहुतसा निरर्थक प्रलाप करना **मौखर्य** अतीचार है । प्रयोजनको विना विचारे अधिकतासे प्रवर्त्तन करना **असमी-क्ष्याधिकरण** अतीचार है । और भोगउपभोगके जितने पदार्थोंसे अपना काम चल जाता है, उनसे अधिकका संग्रह करना **उपभोगपरिभोगानर्थक्य** नामका अतीचार है॥ ३२ ॥

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥

अर्थ—तीनप्रकारके योगदुःप्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच सामायिकव्रतके अतीचार हैं । मनको अन्यथा चलायमान करना **मनोदुःप्रणिधान** नामका अतिचार है ।

वचनको चलायमान करना वाग्दुःप्रणिधान नामका अतीचार है। कायको चलायमान करना कायदुःप्रणिधान नामका अतीचार है। उत्साहरहित अनादरसे सामायिक करना अनादर नामका चौथा अतीचार है। और सामायिकमें एकाग्रताके विना चित्तकी व्यग्रतासे पाठ या क्रियाको भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान नामका पांचवां अतीचार है ॥ ३३ ॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरो-
पक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥

अर्थ——अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमिपर मलमोचनादि करना, तथा उपकरण ग्रहण करना, तथा संथाराआदि बिछाना, व्रतका अनादर करना और स्मृत्यनुपस्थान वा भूल जाना ये पांच प्रोषधोपवासके अतीचार हैं॥ इस भूमिमें जीव हैं कि नहीं हैं, इसप्रकार नेत्रोंसे देखना प्रत्यवेक्षण है और कोमल उपकरणसे भूमिका शोधना बुहारना प्रमार्जन है। सो नेत्रोंसे देखे विना व कोमल पिच्छिकादिसे शोधन किये विना भूमिपर मलमूत्र कफादिक डाल देना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग नामका अतीचार है। इसीप्रकार देखे शोधे विना अरहंत आचार्यादिकनिकी पूजनके गंधमाल्यधूपादि उपकरणोंको ग्रहण करना वा वस्त्रपात्रादिकोंको देखे सोधेविना ही घसीटकर उठाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान नामका दूसरा अतीचार है। विना देखी विना शोधी भूमिपर शयनासनकेलिये वस्त्रादिक बिछाना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्र-

मण नामका तीसरा अतीचार है। क्षुधातृषाकी बाधासे आवश्यकीय धर्मक्रियाओंमें अनादरसे प्रवर्त्तना **अनादर** नामका चौथा अतीचार है। प्रोषधोपवासके दिन करनेयोग्य आवश्यकीय धर्मक्रियाओंका भूल जाना **स्मृत्यनुपस्थान** नामका पांचवां अतीचार है॥ प्रोषधोपवास करनेवालेको इन पांच अतीचारोंका त्याग करना चाहिए॥ ३४॥

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः॥ ३५॥

अर्थ—सचित्त, सचित्तसंबंध, सचित्तसंमिश्र, अभिषव और दुःपक्व ऐसे पांचप्रकारके पदार्थोंका आहार करना उपभोगपरिमाणव्रतके पांच अतीचार हैं॥ जीवसहित पुष्पफलादिकोंका आहार करना **सचित्ताहार** नामका अतीचार है। सचित्तवस्तुसे स्पर्शे हुए पदार्थोंका आहार करना **सचित्तसम्बन्धाहार** नामका दूसरा अतीचार है। सचित्त पदार्थसे मिले हुए पदार्थोंका आहार करना **सचित्तसंमिश्राहार** नामका तीसरा अतीचार है। पुष्टिकर पदार्थोंका आहार करना **अभिषव** नामका चौथा अतीचार है और भलेप्रकार नहीं पके हुए पदार्थोंका आहार करना तथा जो पदार्थ कष्टसे देरसे परिपक्व (हजम) हों, ऐसे पदार्थोंका भोजन करना **दुःपक्वाहार** नामका पांचवाँ अतीचार है॥ ३६॥

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः॥ ३६॥

अर्थ—सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अति-

थिसंविभागके अतीचार हैं ॥ सचित्त (जीवसहित) हरे कमलपत्रादिकोंमें रखकर आहार कराना सचित्तनिक्षेप नामका अतीचार है। सचित्त कमलपत्रादिकसे ढके हुए आहारादिका दान देना सचित्तापिधान नामका अतीचार है। अन्यकी वस्तुका दान करना परव्यपदेश है। अनादरसे दान देना वा अन्यदातारसे ईर्षाभाव करके दान देना मात्सर्य नामा अतिचार है। दान देनेके कालको उल्लंघन करके अकालमें भोजन देना कालातिक्रम नामका पांचवाँ अतीचार है ॥ ३६ ॥

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥ ३७ ॥

अर्थ—जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध और निदान ये पांच सल्लेखना मरणके अतीचार हैं ॥ सल्लेखना धारणकरके जीनेकी आशंसा (इच्छा) करना जीविताशंसा नामका अतीचार है। रोगादिकके उपद्रवोंसे घबराकर मरनेकी वांछा करना मरणाशंसा अतीचार है। मित्रोंको स्मरण करना मित्रानुराग नामका अतीचार है। पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंको याद करना सुखानुबंध नामका अतीचार है। अगले जन्ममें विषयादि सुखोंकि प्राप्त होनेकी वांछा करना निदान नामका अतीचार है ॥ ३७ ॥

अब दानका लक्षण कहते हैं,—

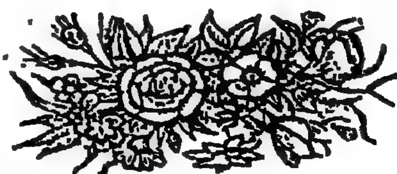
अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—(अनुग्रहार्थम्) अपने और परके उपकारके लिये (स्वस्य) धनादिकका वा स्वार्थका (अतिसर्गः) त्याग करना (दानं) दान है ॥ दानसे जो पुण्यबंध होता है, वह तो अपना उपकार है। और जो उससे पात्रके सम्यग्ज्ञानादि गुणोंकी वृद्धि होती है, सो परका उपकार है। ऐसे स्वपर-उपकारी आहारादिके देनेको दान कहते हैं ॥ ३८ ॥

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥ ३९ ॥

अर्थ—(विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्) विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातारविशेष और पात्रविशेषके कारण (तद्विशेषः) उस दानमें भी विशेषता है। अर्थात् इन चार कारणोंसे दानके उत्तम मध्यम जघन्य आदि भेद होते हैं और उनके फल भी उत्तम मध्यम जघन्य आदि होते हैं ॥ ३९ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥



अथाष्टमोऽध्यायः प्रारभ्यते ।



मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥ १ ॥

अर्थ—(मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय
और योग ये पांच (बन्धहेतवः) वंधके हेतु [कारण] हैं ॥ अतत्त्वका श्रद्धान सो
मिथ्यात्व वा मिथ्यादर्शन है। इसके दो भेद हैं। एक गृहीतमिथ्यात्व और एक अगृहीतमिथ्या-
त्व । परके उपदेश वा कुशास्त्रोंके सुननेसे जो अतत्त्वश्रद्धान हो, वह गृहीतमिथ्यात्व है और
परके उपदेशादिके विना ही पूर्वोपार्जित मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो अतत्त्वश्रद्धान हो, वह अगृहीत-
मिथ्यात्व वा निसर्गजमिथ्यात्व है । गृहीतमिथ्यात्वके एकान्तमिथ्यात्व, विपरीतमिथ्यात्व,
संशयमिथ्यात्व, विनयमिथ्यात्व और अज्ञानमिथ्यात्व इसप्रकार पांच भेद हैं । वस्तुमें वा पदा-
र्थमें जो अनेक धर्म होते हैं, उन सबको गौणकरके एक ही धर्मको मानकर केवल उसीका श्रद्धान
करना एकान्तमिथ्यात्व है। सग्रंथको निर्ग्रंथ मानना, केवलीको आहार करनेवाला मानना, स्त्रीको
मोक्ष मानना, इसप्रकार उलटे श्रद्धानको विपरीतमिथ्यात्व कहते हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप
मोक्षमार्ग है कि नहीं,' इसप्रकारके संदेहरूप श्रद्धानको संशयमिथ्यात्व कहते हैं। समस्तप्रकारके

देवों कुदेवों और समस्त प्रकारके दर्शनोंको एक ही मानना तथा सबकी भक्ति करना विनयमिथ्यात्व है। और हिताहितकी परीक्षारहित श्रद्धान करना अज्ञानमिथ्यात्व है। षट्कायके जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं करना और पांच इन्द्रियोंको तथा मनको वशमें नहीं करना, सो बारह प्रकारकी अविरति है। भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भैक्ष्यशुद्धि, पापनाशनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि और वाक्यशुद्धि, इन आठ शुद्धियोंमें तथा दशलक्षणधर्ममें उत्साहरहित परिणाम हो मन्दोद्यमी होनेको प्रमाद कहते हैं। स्त्रीकथा, राजकथा, भोजनकथा और देशकथा ये ४ विकथाएं, क्रोध मान माया लोभ ये ४ कषाय, पांच इन्द्रियें, निद्रा और राग इसप्रकार प्रमादके १५ भेद हैं। कषायके क्रोधमानमायालोभरूप १६ भेद और हास्य रति अरति आदि नोकषायोंके ९ भेद इसप्रकार सब मिलाकर २५ कषाय हैं। चार मनोयोग, चार वाग्योग, पांच काययोग, एक आहारककाययोग और एक आहारकमिश्रयोग ऐसे १५ योग हैं। इन सबसे अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगोंसे शुभाशुभ कर्मोंका बंध होता है ॥ १ ॥

अब बंधका स्वरूप कहते हैं,—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ॥ २ ॥

अर्थ—(जीवः) जीव (सकषायत्वात्) कषायसहित होनेसे जो (कर्मणः) कर्मोंके (योग्यान्) योग्य (पुद्गलान्) पुद्गलोंको (आदत्ते) ग्रहण करता है (सः) सो (बन्धः)

बन्ध है ॥ समस्त लोकमें पुद्गलोंके परमाणु भरे हैं। उनमें कार्माणवर्गणाके परमाणु भी हर जगह मौजूद हैं। यह आत्मा जब मनवचनकायरूप योगोंकेद्वारा सकंप वा कषायसंहित होता है, तब वे कार्माणवर्गणाएं कर्मरूप होकर आत्मासे सम्बंध कर लेती हैं। इसीको कर्मबंध कहते हैं। उस समय कषाय यदि मंद होते हैं, तो कर्मोंका स्थितिबंध व अनुभागबंध मंद होता है और तीव्र होते हैं, तो तीव्र होता है ॥ २ ॥

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥

अर्थ—(प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशाः[1]) प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश-बंध ये (तद्विधयः) उस बंधकी चार विधिया हैं ॥ प्रकृति नाम स्वभावका है। जैसे नीमका स्वभाव कटुक है और गुड़का मीठा है। कर्मोंमें ८ प्रकारके स्वभावोंका वा रसोंका पड़ना प्रकृतिबंध है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुः, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ कर्म हैं। इनमेंसे ज्ञानावरणकी प्रकृति [स्वभाव] आत्माके ज्ञानको आच्छादन करनेकी है। दर्शनावरणकी प्रकृति आत्माके दर्शन अर्थात् ज्ञानके सामान्यावलोकनरूप अंशको अच्छादन करनेकी है। वेदनीयकी प्रकृति आत्मामें सुखदुःख उत्पन्न करनेकी है। मोहनीय कर्ममें मद्य धतूरे आदिके समान मोह उत्पन्न करनेकी प्रकृति है। आयुकर्मका

१ 'प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाः' ऐसा भी पाठ है।

स्वभाव आत्माको किसी भी शरीरमें नियमित समय तक अटकानेका है। नाम कर्मका स्वभाव आत्माके लिये नानाप्रकारके शरीर अंगोपांगादि रचनेका है। गोत्रकर्म ऊंच नीचकुलमें उत्पन्न करनेकी प्रकृति रखता है। और अन्तराय कर्मकी प्रकृति आत्माके, वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोगोंमें विघ्न डालनेकी है। कर्ममें इसप्रकारके स्वभाव होनेको **प्रकृतिबंध** कहते हैं। उक्त आठ प्रकारकी कर्मप्रकृतियां जो आत्माके प्रदेशोंसे बंधरूप हुई हैं, जितने कालतक रहेंगी अर्थात् जितने समयतक अपने स्वभावको नहिं छोड़ेंगी, उतने समयकी मर्यादा जिससे पड़ती है, उसे **स्थितिबंध** कहते हैं। और जिस प्रकार बकरी गौ भैंसके दूधमें थोड़ा और अधिक रस होता है, उसी प्रकार कर्मोंमें तीव्र मध्य मंदरूप रस (फल) देनेकी शक्ति होनेको **अनुभागबंध** वा **अनुभवबंध** कहते हैं। उक्त आठ प्रकारके कर्मोंका आत्माके प्रदेशोंसे एक क्षेत्रावगाहरूप संबंध होना **प्रदेशबन्ध** है। इसप्रकार बंधके ४ प्रकार हैं ॥ ३॥

अब प्रकृतिबंधके मूल आठ भेद कहते हैं,—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्राऽन्तरायाः ॥ ४ ॥

अर्थ—(आद्यः) आदिका बंध अर्थात् प्रकृतिबन्ध (ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रन्तरायाः) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और

अंतराय इसतरह आठप्रकारका है ॥ अर्थात्—आठप्रकारके स्वभाववाला है । इनमेंसे ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय घातिकर्म हैं, और शेष चार अघाति कर्म हैं ॥ ४ ॥

अब इन मूलप्रकृतियोंके उत्तरभेद (उत्तरप्रकृतियां) कहते हैं,—

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ॥ ५ ॥

अर्थ—आठप्रकारकी जो मूलप्रकृतियां हैं, उनके (यथाक्रम) क्रमसे (पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदाः) पांच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, बियालीस, दो और पांच भेद हैं ॥ भावार्थ—ज्ञानावरणके पांच, दर्शनावरणके नौ, वेदनीयके दो, मोहनीयके अट्ठाईस, आयुके चार, नामकर्मके बियालीस, गोत्रकर्मके दो और अन्तराय कर्मके पांच भेद हैं ॥५॥

अब ज्ञानावरणके पांच भेद कहते हैं,—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

अर्थ—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ऐसे पांच भेद ज्ञानावरणप्रकृतिके हैं ॥ आवरण नाम परदेका वा ढकनेका अथवा आड़का है । किसी मूर्त्तिपर कपड़ेका परदा डाल देनेसे जिसतरह उसका आकार नहीं दीखता है, उसीप्रकारसे आत्मामें जो ज्ञानशक्ति है वह ज्ञानावरणकर्मके परदेसे ढंकी रहनेके कारण प्रगट नहीं हो सकती है । यद्यपि मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणके किंचित् क्षयो-

पशमसे थोड़ा बहुत ज्ञान सब जीवोंमें रहता है परन्तु बाकीके सब ज्ञानोंको उक्त पांचोंप्रकारके कर्म न्यूनाधिक रूपमें ढाँके रहते हैं। मतिज्ञानको ढके, उसको मतिज्ञानावरण कहते हैं। श्रुतज्ञानको ढके, उसे श्रुतज्ञानावरण कहते हैं। अवधिज्ञानको आवरण करे, उसे अवधिज्ञानावरण कहते हैं। मनःपर्ययज्ञानको आच्छादन करै, उसे मनःपर्ययज्ञानावरण कहते हैं। और केवलज्ञानको आच्छादन करै, उसे केवलज्ञानावरण कर्म कहते हैं॥ ६॥

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्रा-
प्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ॥ ७ ॥

अर्थ—(चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां) चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार (च) और (निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयः) निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, और स्त्यानगृद्धि ये पांच निद्राएं मिलकर नवप्रकृति दर्शनावरणकर्मकी हैं॥ जिसके उदयसे आत्मा चक्षुरिन्द्रियरहित एकेन्द्रिय वा विकलेन्द्रिय हो अथवा चक्षुरिन्द्रियसहित पंचेंद्रिय हो, तो भी उसके नेत्रोंमें देखनेकी सामर्थ्य न हो अर्थात् अन्धा, काना, वा न्यूनदृष्टि हो, उसे चक्षुर्दर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। जिसके उदयसे चक्षुके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंसे दर्शन (सामान्यज्ञान) न हो, उसे अचक्षुर्दर्शनावरणप्रकृति कहते हैं। अवधिदर्शनसे जो सामान्य अवलोकन होता है, उसको आच्छादन करनेवाली अवधि-

दर्शनावरणप्रकृति है । केवलदर्शनद्वारा जो समस्तदर्शन नहीं होने देती है, उसे केवलदर्शनावरणप्रकृति कहते हैं । मद खेद ग्लानि दूरकरनेके लिये जो नींद ली जाती है, सो निद्रादर्शनावरणप्रकृति है । निद्रापर निद्रा आना निद्रानिद्रादर्शनावरण-प्रकृति है । निद्रानिद्रादर्शनावरणके उदयसे ऐसी निद्रा आती है कि, जीव नेत्रोंको नहीं उघाड़ सकता है । और जिससे शोक, खेद मदादिकके कारण बैठे २ ही शरीरमें विकार उत्पन्न होकर पांचों इन्द्रियोंके व्यापारका अभाव हो जाय, उसे प्रचलादर्शनावरणप्रकृति कहते हैं । इसके उदयसे जीव नेत्रोंको कुछ उघाड़े हुए ही सो जाता है, अर्थात् सोता सोता भी कुछ जानता है, बैठा २ ही घूमने लग जाता है, नेत्र गात्र चलाया करता है, और देखते हुए भी कुछ नहीं देखता है । जिसके उदयसे मुखसे लाला वहने लग जाय, अंग उपांग चलायमान होते रहैं, सुई आदि चुभानेसे भी चेत न होवे, उसे प्रचलाप्रचलादर्शनावरण प्रकृति कहते हैं । जिस निद्राके आनेपर मनुष्य चैतन्यसा होकर अनेक रौद्रकर्म कर लेता है और फिर वेहोश हो जाता है तथा निद्रा छूटनेपर उसे मालूम नहीं रहता है कि मैंने क्या क्या काम कर डाले, उसे स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणप्रकृति कहते हैं । इसप्रकार दर्शनावरणप्रकृतिके नव भेद हैं ॥ ७ ॥

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

अर्थ—(सदसद्वेद्ये) वेदनीयकर्म सत् और असत् भेदसे दोप्रकारका है । अर्थात्—

एक सातावेदनीय और दूसरा असातावेदनीय ॥ जिसके उदयसे शारीरिक मानसिक अनेकप्रकार सुखरूप सामग्रीकी प्राप्ति हो, उसे सातावेदनीय कहते हैं और जिसके उदयसे दुःखदायक सामग्रीकी प्राप्ति हो, उसे असातावेदनीय कहते हैं ॥ ८ ॥

अब मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंको कहते हैं,—

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥ ९ ॥

अर्थ—(**दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्याः**) दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषायवेदनीय , और कषायवेदनीय ये चार मोहनीयकर्म क्रमसे (**त्रिद्विनवषोडशभेदाः**) तीन, दो, नव और सोलह प्रकारके हैं । जिनमेंसे दर्शनमोहनीय (**सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि**) सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, और सम्यग्मिथ्यात्व तीन प्रकारका है । और चारित्रमोहनीय (**अकषायकषायौ**) अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय ऐसे दो प्रकारका है। फिर इनमेंसे अकषायवेदनीय तो (**हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साः स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः**) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद ऐसे नव प्रकारका है ।

(च) और कषायवेदनीय (अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाः) अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलनके भदोंसहित (क्रोधमानमाया-लोभाः) क्रोध मान माया और लोभरूप १६ प्रकारका होता है ।

भावार्थ—मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । इनमेंसे दर्शनमोहनीयके सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, और सम्यङ्मिथ्यात्व अर्थात् मिश्रमोहनीय ये तीन और चारित्रमोहनीयके अकपायवेदनीय और कषायवेदनीय ये दो भेद हैं। अकपायवेदनीय,—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ऐसे नवप्रकारका है । और कषायवेदनीय १ अनन्तानुबंधीक्रोध, २ अप्रत्याख्यानक्रोध, ३ प्रत्याख्यानक्रोध, ४ संज्वलनक्रोध, ५ अनंतानुबंधीमान, ६ अप्रत्याख्यानमान, ७ प्रत्याख्यानमान, ८ संज्वलनमान, ९ अनंतानुबन्धीमाया, १० अप्रत्याख्यानमाया, ११ प्रत्याख्यानमाया, १२ संज्वलनमाया, १३ अनन्तानुबंधीलोभ, १४ अप्रत्याख्यानलोभ, १५ प्रत्याख्यानलोभ और १६ संज्वलनलोभ; ऐसे सोलह प्रकारका है ।

---

१. किंचित्कषायको ईषत्कषाय वा नोकषाय वा अकषायवेदनीय कहते हैं। आत्माको कषे क्लेशित करे, उसे कषाय कहते हैं। यहां अकषाय शब्दका अर्थ कषायरहित नहीं है, किन्तु किंचित् कषाय है।

जिसके उदयसे सर्वज्ञभाषित मार्गसे पराङ्मुखता और तत्त्वार्थश्रद्धानमें निरुत्सुकता वा निरुद्यमता तथा हिताहितकी परीक्षामें असमर्थता होती है, वह **मिथ्यात्वप्रकृति** है। जब शुभपरिणामके प्रभावसे मिथ्यात्वका रस हीन हो जाता है, और वह शक्तिके घटनेसे असमर्थहोकर आत्माके श्रद्धानको नहीं रोक सकता है, अर्थात सम्यक्त्वको बिगाड़ नहीं सकता, है, तब जिसका उदय होता है वह **सम्यक्त्वप्रकृति** है। और जिसके उदयसे तत्त्वोंके श्रद्धानरूप और अश्रद्धानरूप दोनों प्रकारके भाव दही गुड़के मिले हुए स्वादके समान मिले हुए होते हैं, उसे **सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति** कहते हैं। ये तीनों ही प्रकृतियां आत्माके सम्यक्त्वभावको घात करनेवाली हैं।

जिसके उदयसे हँसी आवे, उसे **हास्यप्रकृति** कहते हैं। जिसके उदयसे विषयोंमें उत्सुकता वा आसक्तता हो, सो **रति** है। रतिसे उलटी **अरति** है। जिसके उदयसे सोच वा चिंता हो, सो **शोक** है। जिसके उदयसे उद्वेग प्रगट हो, सो **भय** है। जिसके उदयसे अपने दोषोंका आच्छादन करना और अन्यके कुल शीलादिकमें दोष प्रकट करना हो, अथवा अवज्ञा, तिरस्कार वा ग्लानिरूप भाव हों, सो **जुगुप्सा** है। जिसके उदयसे पुरुषसे रमनेकी इच्छा हो, सो **स्त्रीवेद** है, स्त्रीसे रमनेकी इच्छा हो, सो **पुरुषवेद** है। और स्त्रीपुरुष दोनोंसे रमनेके भाव हों, सो **नपुंसकवेद**[1] है।

---

१ स्त्रीपुरुष और नपुंसकोंके शरीरोंमें जो गुप्त अंगोंकी रचना होती है, सो तो नामकर्मके उदयसे होती है और रमनेकी इच्छारूप जो कार्य होता है, सो वेदकर्म जनित है।

कषायवेदनीयके १६ प्रकार हैं। जिनमेंसे क्रोध, मान, माया, और लोभ ये चार मुख्य हैं। जिसके उदयसे अपने और परके घात करनेके परिणाम हों, तथा परके उपकार करनेके अभावरूप भाव वा क्रूरभाव हों, सो क्रोधकषाय है। और जाति, कुल, वल, ऐश्वर्य, विद्या, रूप, तप, और ज्ञानादिकके गर्वसे उद्धतरूप तथा अन्यसे नम्रीभूत न होनेरूप परिणाम, सो मानकषाय है। अन्यको ठगनेकी इच्छासे जो कुटिलताकी जाती है, सो माया है। और अपने उपकारक द्रव्योंमें जो अभिलाषा होती है, सो लोभ है। इन चारोंमेंसे प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे तीव्रतर, तीव्र, मंद, और मंदतर ऐसे चार चार भेद हैं। अनन्त संसारका कारण जो मिथ्यात्व है, उसके साथ ही रहनेवाले परिणामोंको अनन्तानुबन्धी क्रोधमानमाया-लोभ कहते हैं। अप्रत्याख्यानको अर्थात् थोड़े त्यागको जो आवरण करैं—रोकैं, उन परिणामोंको अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभ कहते हैं। और प्रत्याख्यान अर्थात् सर्व त्यागको जो आवरण करैं अर्थात् महाव्रत नहीं होने देवैं, ऐसे परिणामोंको प्रत्याख्यान क्रोधमानमाया-लोभ कहते हैं। और जो संजमके साथ ही प्रकाशमान रहैं अथवा जिन होनेपर संजम भी प्रकाशमान् हुआ करै—बाधा नहीं करै ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभरूप परिणामोंको संज्वलनक्रोधमानमायालोभ कहते हैं। इसप्रकार प्रत्येकके चार चार भेद होनेसे कषायवे-दनीयकी सोलह प्रकृति हो गईं। उनमें ९ अकषायवेदनीयकी और तीन दर्शनमोहकी

मिलानेसे मोहनीयकर्मकी २८ प्रकृति हुई। दर्शनमोहकी तीन प्रकृति और अनन्ता-
नुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार इसतरह ७ प्रकृति सम्यक्त्वका घात करती हैं।
इनके उदय रहते सम्यक्त्व नहीं होता है, अप्रत्याख्यानरूप क्रोध, मान, माया, लोभके उदय
रहते श्रावकके व्रत नहीं होते हैं, प्रत्याख्यान चौकड़ीके उदय रहते महाव्रत नहीं होते हैं और
संज्वलन चौकड़ीके उदयसे यथाख्यातचारित्र नहीं होता है ॥ ९ ॥

अब आयुकर्मके चार भेद बतलाते हैं—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ॥ १० ॥

अर्थ—नारकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और दैवायु इसतरह चार आयुकर्मकी प्रकृति हैं ॥
जिसके सद्भावसे आत्मा नरकादिक गतियोंमें जीवे और अभावसे मरणको प्राप्त हो जाय,
उसको आयुकर्म कहते हैं ॥ १० ॥

अब नामकर्मकी बियालीस प्रकृति कहते हैं—

**गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहनन-
स्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वा-
सविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्ति-
स्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥ ११ ॥**

अर्थ—(गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धव-
र्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः) गति, जाति, शरीर, अंगो-
पांग, निर्माण, बन्धन, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्व्य, अगुरुलघु, उपघात,
परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास और विहायोगति ये इक्कीस तथा (प्रत्येकशरीरत्रससुभग-
सुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि) प्रत्येकशरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ,
सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशःकीर्ति ये दश तथा इनकी उलटी साधारणशरीर, स्थावर,
दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, वादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, और अयशस्कीर्ति ये दश, (च)
और (तीर्थकरत्वं) तीर्थकरत्व, इसप्रकार ४२ प्रकृति हैं ॥ ११ ॥

१। जिसके उदयसे आत्मा भवान्तरके प्रति सन्मुख होकर गमनको प्राप्त होता है, सो
गतिनाम कर्म है। यह चारप्रकारका है—नरकगति, तिर्यंचगति, देवगति और मनुष्यगति।
जिसके उदयसे आत्मा नरकमें जावे, उसको नरकगति नामकर्म, जिसके उदयसे तिर्यंचयोनि-
में जाय, उसे तिर्यग्गति नामकर्म, जिसके उदयसे मनुष्य जन्मको प्राप्त हो, उसे मनुष्यगति-
नाम कर्म और जिसके उदयसे देवपर्यायको प्राप्त हो, उसे देवगति नामकर्म कहते हैं ॥

२। उक्त नरकादि गतियोंमें जो अविरोधीसमानधर्मोंसे आत्माको एक रूप करता है, सो
जातिनामकर्म है। उसके पांच भेद—एकेंद्रियजातिनामकर्म, द्वींद्रियजाति नामकर्म, त्रींद्रि-

यजाति नामकर्म, चतुरिंद्रियजाति नामकर्म और पंचेंद्रियजाति नामकर्म। जिसके उदयसे
आत्मा एकेन्द्रियजाति होय, उसे एकेन्द्रियजाति नामकर्म, जिसके उदयसे द्वींद्रियजाति हो,
उसे द्वींद्रियजाति, जिसके उदयसे त्रीन्द्रियजाति हो, उसे त्रीन्द्रियजाति, जिसके उदयसे
चतुरिंद्रियजाति हो, उसे, चतुरिंद्रियजाति और जिसके उदयसे पंचेन्द्रियजाति हो, उसे
पंचेन्द्रियजाति नामकर्म कहते हैं।

३। जिसके उदयसे शरीरकी रचना होती है, उसे शरीरनामकर्म कहते हैं। शरीर
नामकर्म भी पांचप्रकारका है। १ औदारिकशरीर, २ वैक्रियिकशरीर, ३ आहारकशरीर,
४ तैजसशरीर और ५ कार्मणशरीर। जिसके उदयसे औदारिकशरीरकी रचना हो, वह
औदारिकशरीर, जिसके उदयसे वैक्रियिकशरीरकी रचना हो, वह वैक्रियिकशरीर, जिसके उद-
यसे आहारकशरीरकी रचना हो, वह आहारकशरीर जिसके उदयसे तैजसशरीरकी रचना हो,
वह तैजसशरीर और जिसके उदयसे कार्मणशरीरकी रचना हो, वह कार्मणशरीर नामकर्म है॥

४। जिसके उदयसे अंग उपांगोंका भेद प्रगट हो, उसको अंगोपांगनामकर्म कहते हैं।
मस्तक, पीठ, हृदय[1], बाहु, उदर, जांघ, हाथ, और, पांव इनको तो अंग कहते हैं—और

[1] गोम्मटसारमें हृदयकी जगह नितम्ब; और जंघाओंकी जगह पांव तथा दोनों जंघाएं और दोनों भुजाएं कहीं हैं। बाहूमें हाथका समावेश किया है।

इनके ललाटनासिकादि भागोंको उपांग कहते हैं । अंगोपांग नामकर्म तीनप्रकारका है—औदारिकशरीरांगोपांग, वैक्रियिकशरीरांगोपांग और आहारकशरीरांगोपांग ॥

५ । जिसके उदयसे अंग उपांगोंकी उत्पत्ति हो, उसे **निर्माणनामकर्म** कहते हैं । निर्माण नामकर्म दो प्रकारका है—एक स्थाननिर्माण, दूसरा प्रमाणनिर्माण । जातिनामा नामकर्मके उदयसे जो नाक कान आदिको योग्य स्थानमें निर्माण करता है, सो तो स्थाननिर्माण-नामकर्म है और जो उन्हें योग्य लम्बाई चौड़ाई आदिका प्रमाण लिये रचना करता है, सो प्रमाणनिर्माण है ॥

६ । जिसके उदयसे शरीरनामकर्मके वशसे ग्रहण किये हुए आहारवर्गणाके पुद्गलस्कंधोंके प्रदेशोंका मिलना हो, वह **बन्धननामकर्म** है । बंधननामकर्म पांचप्रकारका है—१ औदारिकबंधननामकर्म, २ वैक्रियिकबंधननामकर्म, ३ आहारकबंधननामकर्म, ४ तैजसबंधन नामकर्म, और ५ कार्मणबंधननामकर्म । जिसके उदयसे औदारिक बंध हो, सो औदारिकबंधन नामकर्म है । जिसके उदयसे वैक्रियिकबंध हो, वह वैक्रियिकबंधन नामकर्म है । जिसके उदयसे आहारकबंध हो, वह आहारकबंधन नामकर्म है । जिसके उदयसे तैजसबंध हो, वह तैजसबंधन नामकर्म है । और जिसके उदयसे कार्मणबन्ध हो, वह कार्मणबंध नामकर्म है ॥

७ । जिसके उदयसे औदारिक आदि शरीरोंका छिद्ररहित अन्योऽन्यप्रदेशानुप्रवेशरूप

संघटन (एकता) हो, उसे **संघात नामकर्म** कहते हैं । संघात भी औदारिकसंघात, वैक्रियिकसंघात, तैजससंघात, आहारकसंघात और कार्मणसंघात भेदसे पांच प्रकारका है । जिसके उदयसे औदारिक शरीरमें छिद्ररहित संधियां (जोड़) हों, वह औदारिकसंघात है । जिसके उदयसे वैक्रियिकशरीरमें संघात हो, वह वैक्रियिकसंघात है । जिसके उदयसे आहारकशरीरमें संघात हो, वह आहारकसंघात है । जिसके उदयसे तैजसशरीरमें संघात हो, वह तैजससंघात है और जिसके उदयसे कार्मणशरीरमें संघात हो, वह कार्मणसंघात है ॥

८ । जिसके उदयसे शरीरकी आकृति (आकार) उत्पन्न हो, उसे **संस्थाननामकर्म** कहते हैं । यह छह प्रकारका है—१ समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म, २ न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म, ३ स्वातिसंस्थान नामकर्म, ४ कुब्जकसंस्थान नामकर्म, ५ वामनसंस्थान नामकर्म और ६ हुंडकसंस्थान नामकर्म । जिसके उदयसे ऊपर नीचे और मध्यमें समान विभागसे शरीरकी आकृति उत्पन्न हो, उसे **समचतुरस्रसंस्थान** नामकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे शरीरका नाभिके नीचेका भाग वटवृक्षके समान पतला हो और ऊपरका स्थूल व मोटा हो, वह **न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान** नामकर्म है । जिसके उदयसे शरीरके नीचेका भाग स्थूल या मोटा हो और ऊपरका पतला हो, उसे **स्वातिसंस्थान** नामकर्म कहते हैं । जिसके उदयसे पीठके भागमें बहुतसे पुद्गलोंका समूह हो—अर्थात् कुबड़ा शरीर हो, उसे **कुब्जकसंस्थान** नामकर्म कहते

हैं। जिसके उदयसे शरीर बहुत छोटा हो, वह **वामनसंस्थान** नामकर्म है और जिसके उदयसे शरीरके अंग उपांग कहींके कहीं, छोटे बड़े, वा संख्यामें न्यूनाधिक हों, इसतरह विषम बेडौल आकारका शरीर हो, उसे **हुंडकसंस्थान** नामकर्म कहते हैं ॥

९। जिसके उदयसे शरीरके अस्थिपंजरादिके (हाड़ वगैरहके) बंधनोंमें विशेषता हो, उसे **संहनननामकर्म** कहते हैं। यह छह प्रकारका है। १ वज्रवृषभनाराचसंहनन नामकर्म, २ वज्रनाराचसंहनन नामकर्म, ३ नाराचसंहनन नामकर्म, ४ अर्द्धनाराचसंहनन नामकर्म, ५ कीलकसंहनन नामकर्म, और ६ असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन नामकर्म। नसोंसे हाड़ोंके बंधनेका नाम ऋषभ वा वृषभ है। नाराच नाम कीलनेका है, और संहनन नाम हाड़ोंके समूहका है। सो जिस कर्मके उदयसे वृषभ (वेष्टन) नाराच (कील) और संहनन (अस्थिपंजर) ये तीनों ही वज्रके समान अभेद्य हों, उसे **वज्रवृषभनाराचसंहनन** नामकर्म कहते हैं। जिसके उदयसे नाराच और संहनन तो वज्रमय हो और वृषभ सामान्य हो, वह **वज्रनाराचसंहनन** नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड़ तथा संधियोंके कीले तो हों, परन्तु वज्रमय न हों और वज्रमय वेष्टन भी न हो, सो **नाराचसंहनन** नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड़ोंकी संधियां अर्द्धकीलित हों, अर्थात् एक तरफ तो कीलें हों दूसरी तरफ न हों, वह **अर्द्धनाराचसंहनन** नामकर्म है। जिसके उदयसे हाड़ परस्पर कीलित हों, सो **कीलकसंहनन** नामकर्म है। और

जिसके उदयसे हाड़ोंकी संधियां तो कीलित न हों, किन्तु नसों, स्नायुयों और मांससे बंधी हों, वह **असंप्राप्तासृपाटिकासंहनन** नामकर्म है ॥

१०। जिसके उदयसे शरीरमें स्पर्शगुण प्रगट होता है, उसे **स्पर्शनामकर्म** कहते हैं। यह **आठ प्रकारका है**—१ कर्कशस्पर्श नामकर्म, २ मृदुस्पर्श नामकर्म, ३ गुरुस्पर्श नामकर्म, ४ लघुस्पर्श नामकर्म, ५ स्निग्धस्पर्श नामकर्म, ६ रूक्षस्पर्श नामकर्म, ७ शीतस्पर्श नामकर्म, और ८ उष्णस्पर्श नामकर्म ॥

११। जिसके उदयसे देहमें रस (स्वाद) उत्पन्न हो, उसे **रस नामकर्म** कहते हैं। यह **पांच प्रकारका है**—१ तिक्तरस नामकर्म, २ कटुरस नामकर्म, ३ कषायरस नामकर्म, ४ आम्लरस नामकर्म, और ५ मधुररस नामकर्म ॥

१२। जिसके उदयसे शरीरमें गन्ध प्रगट हो, सो **गन्धनामकर्म** है। यह **दो प्रकारका** है। एक सुगंध नामकर्म दूसरा दुर्गन्ध नामकर्म ॥

१३। जिसके उदयसे शरीरमें वर्ण (रंग) उत्पन्न हो, उसे **वर्णनामकर्म** कहते हैं। यह **पांच प्रकारका** है।—१ शुक्लवर्ण नामकर्म, २ कृष्णवर्ण नामकर्म, ३ नीलवर्ण नामकर्म, ४ रक्तवर्ण नामकर्म, और ५ पीतवर्ण नामकर्म ॥

१४। पूर्वायुके उच्छेद होनेपर पूर्वके निर्माण नामकर्मकी निवृत्ति होनेपर विग्रहगतिमें

जिसके उदयसे पूर्वके तैजस कार्मण शरीरके आकारका विनाश नहीं हो, उसे **आनुपूर्व्य नामकर्म** कहते हैं। इसके चार भेद हैं—१ नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, २ देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म। ३ तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म, और ४ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म। जिस समय मनुष्य व तिर्यंचकी आयु पूर्ण हो और आत्मा शरीरसे पृथक् होकर नरकभवप्रति जानेको सन्मुख हो, उस समय मार्गमें जिसके उदयसे आत्माके प्रदेश पहिले शरीरके आकारके रहते हैं, उसको **नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य** कहते हैं। इस कर्मका उदय विहायोगतिमें ही होता है। इसी प्रकार अन्य तीनों भी समझना। इस कर्मका उदयकाल जघन्य एक समय, मध्यम दो समय, और उत्कृष्ट तीन समयमात्र है ॥

१५। जिसके उदयसे जीवोंका शरीर लोहपिंडके समान भारीपनके कारण नीचे नहीं पड़ जाता है, और आककी रूईके समान हलकेपनसे उड़ भी नहीं जाता है, उसको **अगुरुलघुनाम कर्म** कहते हैं। यहांपर शरीरसहित आत्माके संबन्धमें अगुरुलघु कर्मप्रकृति मानी गई है। अन्यद्रव्योंमें जो अगुरुलघुत्व है, वह स्वाभाविक गुण है ॥

१६। जिसके उदयसे शरीरके अवयव ऐसे होते हैं कि उनसे उसीका बंधन वा घात हो जाता है, उसे **उपघात नामकर्म** कहते हैं ॥

१७ । जिसके उदयसे पैनें सींग नख वा डंक इत्यादि परको घात करनेवाले अवयव होते हैं, उसको **परघात नामकर्म** कहते हैं ॥

१८ । जिसके उदयसे आतापकारी शरीर होता है, वह **आताप नामकर्म** है। इस कर्मका उदय सूर्यके विमानमें जो बादर पर्याप्त जीव पृथिवीकायिक मणिस्वरूप होते हैं, उनके ही होता है—अन्यके नहीं होता ॥

१९ । जिसके उदयसे उद्योतरूप शरीर होता है, सो **उद्योत नामकर्म** है । इसका उदय चंद्रमाके विमानके पृथ्वीकायिक जीवोंके तथा आगिया (पटवीजना जुगनू) आदि जीवोंके होता है ॥

२० । जिसके उदयसे शरीरमें उच्छ्वास उत्पन्न हो, सो **उच्छ्वास नामकर्म** है ॥

२१ । जिसके उदयसे आकाशमें गमन हो, उसे **विहायोगति नामकर्म** कहते हैं । यह दो प्रकारका है । जो हाथी बैलआदिकी गतिके समान सुंदर गमनका कारण होता है, वह तो **प्रशस्तविहायोगति** नामकर्म है । और जो ऊंट गर्दभादिकके समान असुंदर गमनका कारण होता है, सो **अप्रशस्तविहायोगति** नामकर्म है । मुक्त होनेपर जीवके तथा चेतनारहित पुद्गलके जो गति होती है, वह स्वाभाविक गति है । उसमें कर्मजनित कारण नहीं है ॥

२२। जिसके उदयसे एक शरीर एक आत्माके भोगनेका कारण हो, उसे **प्रत्येकशरीर नामकर्म** कहते हैं॥

२३। जिसके उदयसे एक शरीर बहुतसे जीवोंके उपभोगनेका कारण हो, उसे **साधारणशरीर नामकर्म** कहते हैं। जिन अनन्त जीवोंके आहारादि चार पर्याप्ति, जन्म, मरण, श्वासोच्छ्वास, उपकार और उपघात एक ही कालमें होते हैं, वे साधारण जीव हैं। जिस कालमें आहारादि पर्याप्ति जन्ममरण श्वासोच्छ्वासको एक जीव ग्रहण करता है, उसी कालमें दूसरे भी अनंत जीव ग्रहण करते हैं। ये साधारण जीव वनस्पतिकायमें होते हैं, अन्य स्थावरोंमें नहीं होते। इनके साधारणशरीरनामकर्मका उदय रहता है॥

२४। जिसके उदयसे आत्मा द्वीन्द्रियादिक शरीर धारण करता है, सो **त्रस नामकर्म** है॥

२५। जिसके उदयसे जीव पृथ्वी अप तेज वायु और वनस्पतिकायमें उत्पन्न होता है, सो **स्थावर नामकर्म** है॥

२६। जिसके उदयसे अन्यके प्रीति उत्पन्न हो अर्थात् दूसरोंके परिणाम देखते ही प्रीतिरूप हो जावें, उसे **सुभग नामकर्म** कहते हैं॥

२७ जिसके उदयसे रूपादि गुणोंसे युक्त होनेपर भी दूसरोंको अप्रीति उत्पन्न हो,—बुरा मालूम हो, उसे **दुर्भग नामकर्म** कहते हैं॥

२८। जिसके उदयसे मनोज्ञस्वरकी अर्थात् सबको प्यारे लगनेवाले शब्दकी प्राप्ति हो, उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

२९। जिसके उदयसे अमनोज्ञस्वरकी प्राप्ति हो, उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं॥

३०। जिसके उदयसे मस्तक आदि अवयव सुंदर हों—देखनेमें रमणीक हो, उसे शुभ नामकर्म कहते हैं॥

३१। जिसके उदयसे मस्तकादिक अवयव रमणीक नहीं हों, उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं॥

३२ जिसके उदयसे ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो, जो अन्य जीवोंके उपकार वा घात करनेमें कारण न हो, पृथ्वी जल अग्नि पवन आदिकसे जिसका घात नहीं हो, और जो पहाड़ आदिकमें प्रवेश करते हुए भी नहीं रुकै, उसे सूक्ष्मशरीर नामकर्म कहते हैं॥

३३। जिसके उदयसे अन्यको रोकने योग्य वा अन्यसे रुकने योग्य स्थूलशरीर प्राप्त हो, उसको बादरशरीर नामकर्म कहते हैं॥

३४। जिसके उदयसे आहारादि पर्याप्ति पूर्ण करता है, उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं॥ पर्याप्ति नामकर्म छह प्रकारका है। १ आहारपर्याप्ति, २ शरीरपर्याप्ति, ३ इन्द्रियपर्याप्ति, ४ प्राणापानपर्याप्ति, ५ भाषापर्याप्ति और ६ मनःपर्याप्ति।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि, प्राणापानपर्याप्ति नामकर्मके उदयका जो उदरसे पवनका निकलना वा प्रवेश होना फल है, वही उच्छ्वास कर्मके उदयका भी है। फिर इन दोनोंमें अन्तर क्या हुआ? सो इसका उत्तर यह है कि—इन दोनोंमें इन्द्रिय अतीन्द्रियका भेद है। अर्थात् पंचेन्द्रिय जीवोंके सर्दीगर्मीके कारण जो स्वास चलती है और जिसका शब्द सुन पड़ता है, तथा मुंहके पास हाथ ले जानेसे जो स्पर्शसे मालूम होती है, वह तो उच्छ्वास नामकर्मके उदयसे होती है और जो समस्त संसारी जीवोंके होती है और इन्द्रियगोचर नहीं होती है, वह प्राणापानपर्याप्तिके उदयसे होती है। एकेन्द्रिय जीवोंके भाषा और मनको छोड़-कर चार, द्वीन्द्रिय त्रींद्रिय चतुरिन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके भाषासहित पांच और सैनी पंचेन्द्रियके छहों पर्याप्ति होती हैं ॥

३५। जिसके उदयसे जीव छहों पर्याप्तियोंसे एकको भी पूर्ण नहीं कर सकै, उसे अप-र्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

३६। जिसके उदयसे रसादिक सात धातुएं और उपधातुएं अपने अपने स्थानमें स्थिरताको प्राप्त हों, दुष्कर उपवासादिक तपश्चरणसे भी अंग उपांगोंमें स्थिरता बनी रहै—रोग नहीं होवे, उसे स्थिरनामकर्म कहते हैं। रस, रुधिर, मांस, मेद, हाड़, मज्जा, और वीर्य ये सात धातुएं हैं। वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम, और जठराग्नि ये सात उपधातुएं हैं ॥

३७। जिसके उदयसे किंचित् उपवासादिक करनेसे तथा किंचिन्मात्र सर्दी गर्मी लगनेसे अंगोपांग कृश हो जाँय—धातु उपधातुओंकी स्थिरता नहीं रहै—रोग हो जावें, उसे **अस्थिरनामकर्म** कहते हैं ॥

३८। जिसके उदयसे प्रभासहित शरीर हो, उसे **आदेयनामकर्म** कहते हैं ॥

३९। जिसके उदयसे शरीर प्रभारहित हो, वह **अनादेयनामकर्म** है ॥

४०। जिसके उदयसे पुण्यरूप गुणोंकी ख्याति प्रगट हो, उसे **यशःकीर्त्तिनामकर्म**[1] कहते हैं।

४१। जिसके उदयसे पापरूप गुणोंकी ख्याति हो, उसे **अयशःकीर्त्तिनामकर्म** कहते हैं॥

४२। जिस प्रकृतिके उदयसे अचिन्त्यविभूतिसंयुक्त तीर्थंकरपनेकी प्राप्ति हो, उसे **तीर्थंकरत्वनामकर्म** कहते हैं।

इसप्रकार नामकर्मकी ४२ प्रकृतियां हैं और इनके अवान्तरभेदोंको जोड़नेसे सब ९३ हो जाती हैं। इनमें पहिली चौदह प्रकृतियोंको पिण्ड (भेदवाली) प्रकृति कहते हैं ॥ ११ ॥

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

अर्थ—(उच्चैः) उच्चगोत्र (च) और (नीचैः) नीचगोत्र ऐसी दो प्रकृतियां गोत्र कर्मकी हैं ॥ जिसके उदयसे लोकपूज्य इक्ष्वाकु आदि उच्चकुलोंमें जन्म हो, उसे उच्च-

१ यहां यश शब्दका अर्थ उत्तम गुण और कीर्तिशब्दका अर्थ उनकी ख्याति—प्रशंसा है।

गोत्रकर्म कहते हैं। और जिसके उदयसे निन्द्य दरिद्री अप्रसिद्ध दुःखोंसे आकुलित चांडालादिके कुलमें जन्म हो, उसे नीचगोत्रकर्म कहते हैं ॥ १२ ॥

अब अन्तराय कर्मकी पांच प्रकृतियोंको कहते हैं,—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन पांच शक्तियोंमें विघ्न करनेवाला अर्थात् उन्हें रोकनेवाला पांच प्रकारका अन्तराय कर्म है ॥ जिसके उदयसे चाहे, तो भी दान नहीं कर सके, उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं। इच्छा करते हुए भी जिसके उदयसे लाभ नहीं हो सके, उसे लाभान्तराय कर्म कहते हैं। जिसके उदयसे भोग किया चाहे, तथापि भोगनेमें समर्थ न हो, उसे भोगान्तराय कर्म कहते हैं। जिसके उदयसे उपभोग करनेमें समर्थ न हो, उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं। और जिसके उदयसे शरीरमें सामर्थ्य प्राप्त न हो, उसे वीर्यान्तरायकर्म कहते हैं। गंध, अतर, पुष्प, स्नान, ताम्बूल, अंगराग, भोजन पानादिक जो एक ही वार भोगे जाते हैं, भोग हैं। और शय्या, आसन, स्त्री, आभरण, हाथी, घोड़ा आदि जो वारंवार भोगनेमें आते हैं, उपभोग हैं ॥ १३ ॥

इसप्रकार ज्ञानावरणादि आठों कर्मोंकी उत्तरप्रकृतियोंके बंधके भेद बतलाये गये। अब स्थितिबंधको कहते हैं। कर्म अपने स्वभावको छोड़कर जितने कालतक आत्मासे जुदा नहीं होते

हैं, उतने कालतक उनके आत्माके साथ बंधे रहनेको स्थितिबंध कहते हैं। स्थितिबंध दो प्रकारका है, एक जघन्यस्थितिबन्ध और दूसरा उत्कृष्टस्थितिबन्ध। इनमेंसे पहिले सब कर्मोंका उत्कृष्टस्थितिबन्ध कहते हैं,—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरो-
पमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ॥ १४ ॥

अर्थ—(आदितः) आदिके (तिसृणाम्) तीन कर्मोंकी अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वेदनीय कर्मकी (च) और (अन्तरायस्य) अन्तराय कर्मकी (परास्थितिः) उत्कृष्टस्थिति (त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः) तीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ इस उत्कृष्टस्थितिका बंध मिथ्यादृष्टी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके होता है ॥ १४ ॥

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

अर्थ—(मोहनीयस्य) मोहनीय कर्मकी उत्कृष्टस्थिति (सप्ततिः) सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ १५ ॥

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

अर्थ—(नामगोत्रयोः) नामकर्म और गोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (विंशति) बीस कोड़ाकोड़ी सागरकी है ॥ १६ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

अर्थ—(आयुषः) आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति (त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि) तेतीस सागरकी है ॥ १७ ॥

आगे कर्मोंकी जघन्य (कमसे कम) स्थिति बतलाते हैं—

अपरा द्वादशमुहूर्त्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

अर्थ—(वेदनीयस्य) वेदनीय कर्मकी (अपरा) जघन्यस्थिति (द्वादशमुहूर्त्ताः) बारह मुहूर्त्तकी है ॥ १८ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अर्थ—(नामगोत्रयोः) नामकर्म और गोत्रकर्मकी जघन्यस्थिति (अष्टौ) आठ मुहूर्त्तकी है ॥ १९ ॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्त्ता ॥ २० ॥

अर्थ—(शेषाणां) बाकीके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु इन पांच कर्मोंकी जघन्यस्थिति (अन्तमुहूर्त्ता) अन्तर्मुहूर्त्त है ॥ २० ॥

---

१ दो घड़ीका, अथवा ४८ मिनिटका एक मुहूर्त होता है। २ एक मुहूर्तके अर्थात् ४८ मिनटके भीतर २ के समयको अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

इसप्रकार स्थितिबन्ध कहा गया। अब अनुभागबंधका वर्णन करते हैं,—

विपाकोऽनुभवः ॥ २१ ॥

अर्थ—(विपाकः) कर्मोंका जो विपाक है अर्थात् उनमें जो फलदान शक्तिका पड़ जाना और उदयमें आकर अनुभव होनें लगना है, सो (अनुभवः) अनुभव वा अनुभाग है। भावार्थ—तीव्रमन्द कषायरूप जिसप्रकारके भावोंसे कर्मोंका आस्रव हुआ है, उनके अनुसार कर्मोंकी फलदायक शक्तिकी तीव्रता मन्दता होनेको अनुभागबंध कहते हैं ॥ २१ ॥

स यथानाम ॥ २२ ॥

अर्थ—(सः) वह अनुभागबंध (यथानाम) कर्मकी प्रकृतियोंके नामानुसार ही होता है। भावार्थ—प्रकृतियोंका जैसा नाम है, वैसा ही उनका अनुभव होता है। जैसे ज्ञानावरणका फल ज्ञानका आवरण करना है और दर्शनावरणका फल दर्शनशक्तिको रोकना है। इसी प्रकार मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतियोंमें जिसका जैसा नाम है, वैसी ही फलदानशक्ति है और वही अनुभव है ॥ २२ ॥

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

अर्थ—(ततः) उस अनुभवके पश्चात् उन कर्मोंकी (निर्जरा) निर्जरा हो जाती है। अर्थात् कर्म हैं सो फल देकर आत्मासे पृथक् हो जाते हैं। यह निर्जरा दो प्रकारकी है। एक

सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा है। कर्मोंका उदयकाल आनेपर रस देकर अपने आप झड़ जाना, सविपाकनिर्जरा है। यह सविपाकनिर्जरा चारों गतिमें रहने-वाले समस्त संसारी जीवोंके हुआ करती है। और कर्मोंके उदयकालके आये विना ही उन्हें तपश्चरणादि करके अनुदय अवस्थामें ही झड़ा देना, अविपाकनिर्जरा है। यहां सूत्रमें 'च' आया है, सो आगे जो "तपसा निर्जरा च" सूत्र कहैंगे, उस अर्थका संग्रह करनेके लिये है ॥ २३ ॥

आगे प्रदेशबंध कहते हैं,—

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥ २४ ॥

अर्थ—(नामप्रत्ययाः) ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी प्रकृतियोंके कारणभूत और (सर्वतः) समस्तभवोंमें वा सव समयोंमें (योगविशेषात्) मनवचनकायकी क्रियारूप योगोंसे (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्माके समस्त प्रदेशोंमें (सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः) सूक्ष्म तथा एक क्षेत्रावगाह रूप स्थित जो (अनन्तानन्तप्रदेशाः) अनन्तानन्त कर्मपुद्गलोंके प्रदेश हैं, उनको प्रदेशबंध कहते हैं। भावार्थ—आत्माके योगविशेषोंके द्वारा त्रिकालमें बंधनेवाले, ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंके कारणीभूत, तथा आत्माके समस्त प्रदेशोंमें व्याप्त होकर कर्मरूप परिणमने

योग्य, सूक्ष्म, और जिस क्षेत्रमें आत्मा ठहरा हो उसी क्षेत्रको अवगाहकर ठहरनेवाले ऐसे, अनन्तानन्त प्रदेशरूप पुद्गलस्कन्धोंको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥ २४ ॥

अब बंध पदार्थके अन्तर्भूत पुण्यबंध और पापबंध भी हैं, इसलिये पहिले पुण्यप्रकृतियोंको कहते हैं,—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ—(सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि) सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, और शुभगोत्र ये (पुण्यम्) पुण्यरूप प्रकृतियें हैं ॥ आठ कर्मोंमेंसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंको घातियाकर्म कहते हैं। ये चारों कर्म आत्माके अनुजीवी गुणोंको घात करते हैं, इस कारण इनको घातिया कर्म कहते हैं। और वेदनीय आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म आत्माके गुणोंको घात नहीं करते, इसकारण इनको अघातिया कर्म कहते हैं। घातिया कर्म तो चारों ही अशुभ (पाप) रूप हैं। परन्तु अघातिया पुण्य और पाप दोनोंरूप हैं। उनकी ६८ अड़सठ प्रकृतियां पुण्यरूप हैं। वे इस प्रकार हैं—१ सातावेदनीय, २ तिर्यंचायु, ३ मनुष्यायु, ४ देवआयु और ५ उच्चगोत्र ये पांच और नामकर्मकी ६३— १ मनुष्यगति, २ देवगति, ३ पंचेन्द्रिय जाति, ४ निर्माण, ५ समचतुरस्रसंस्थान, ६ वज्रर्षभनाराचसंहनन, ७ मनुष्यगत्यानुपूर्वी, ८ देवगत्यानुपूर्वी, ९ अगुरुलघु, १० परघात, ११ उच्छ्वास,

१२ आतप, १३ उद्योत, १४ प्रशस्तविहायोगति, १५ प्रत्येकशरीर, १६ त्रस, १७ सुभग, १८ सुस्वर, १९ शुभ, २० वादर, २१ पर्याप्ति, २२ स्थिर, २३ आदेय, २४ यशःकीर्ति, २५ तीर्थंकरत्व, और २६–३० पांचशरीर, ३१–३३ तीन अंगोपांग, ३४–३८ पांच बंधन, ३९–४३ पांच संघात, ४४–५१ आठ प्रशस्त स्पर्श, ५२–५६ पांच प्रशस्तरस, ५७–५८ दो गन्ध, और ५९–६३ पांच प्रशस्तवर्ण ॥ २५ ॥

अतोऽन्यत्पापम् ॥ २६ ॥

अर्थ—(अतः) उक्त ६८ प्रकृतियोंसे (अन्यत्) और अर्थात् वाकीकी कर्मप्रकृतियें (पापम्) पापरूप अशुभ हैं ॥ अर्थात् ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी नव, मोहनीयकी अठ्ठाईस, अन्तरायकी पांच, असातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र, नामकर्मकी पचास [जिनमें स्पर्शादि[1] २० अप्रशस्त भी हैं] नरकगति, तिर्यग्गति; एकेन्द्रियादि जाति चार, संस्थान पांच, संहनन पांच, नरकगत्यानुपूर्व्य, तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर,

१ स्पर्शादिक वीस प्रकृतियां प्रशस्तरूप और अप्रशस्तरूप भी हैं। प्रशस्त तो पुण्यप्रकृतिमें और अप्रशस्त पापप्रकृतिमें ग्रहण की है। जैसे नीमके पत्तेका कटुकरस ऊंटको अच्छा लगता है पर मनुष्यादिकोंको बुरा लगता है। इसी प्रकार रूप वगैरहके भी दृष्टांत समझ लेना चाहिये।

सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारणशरीर, अशुभ, दुर्भग, अस्थिर, दुःस्वर, अनादेय, और अयशःकीर्त्ति, इसप्रकार सब मिलकर एक सौ प्रकृति अशुभरूप वा पापप्रकृति हैं ॥ २६ ॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः प्रारभ्यते ।

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

अर्थ—(आस्रवनिरोध) आस्रवोंका निरोध करना सो (संवर) संवर है । अर्थात् कर्मोंके आनेके निमित्तरूप मन वचन कायके योगोंके तथा मिथ्यात्व और कषायादिकोंके निरोध होनेसे जो अनेक सुख दुःखोंके कारणरूप कर्मोंकी प्राप्तिका अभाव होना सो संवर है ॥ संवर दो प्रकारका है— एक द्रव्यसंवर और दूसरा भावसंवर । जो पुद्गलमय कर्मोंके आस्रवका रुकना सो द्रव्यसंवर है । और जो द्रव्यमय आस्रवोंके रोकनेमें कारणरूप आत्माके भावोंका होना, सो भावसंवर है ॥ १ ॥

अब—किन २ कारणोंसे आस्रवोंका निरोध होता है सो कहते हैं,—

 गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥ २ ॥

अर्थ—(सः) वह संवर (गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः) तीन गुप्ति-

दसप्रकार धर्म

योंसे, पांच समितियोंसे, बारह अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनसे, बाईस परीषहोंके जीतनेसे, और पांच प्रकारके चारित्र पालनेसे इस प्रकार छह कारणोंसे होता है । संसारमें रुलानेवाले प्रवृत्तिरूप भावोंसे आत्माकी रक्षा करनेको अर्थात् उनके न होने देनेको गुप्ति कहते हैं । किसी जीवको कुछ पीड़ा न हो जाय, इस विचारसे यत्नाचाररूप प्रवृत्ति करनेको समिति कहते हैं। अपने इष्ट सुखके स्थानमें जो धरै वा पहुंचा देवे, उसे धर्म कहते हैं। शरीरादि परद्रव्योंके और आत्माके स्वरूपके चिन्तवन करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। क्षुधा तृषादिकी वेदना उत्पन्न होनेपर उसे कर्मोंकी निर्जराके लिये क्लेशरहित परिणामोंसे सह लेनेको परीषहजय कहते हैं । और संसार परिभ्रमणकी कारणरूप क्रियाओंके त्याग करनेको चारित्र कहते हैं ॥ २ ॥

तपसा निर्जराच ॥ ३ ॥

अर्थ—(तपसा) बारह प्रकारके तप करनेसे (निर्जरा) निर्जरा (च) और संवर दोनों होते हैं । यद्यपि दशप्रकारके धर्मोंमें तप आ गया है । परन्तु समस्त प्रकारके संवरोंमें तप एक प्रधान कारण है, इसलिये इसको भिन्न कहा है । तपके प्रभावसे नये कर्मोंका संवर [निरोध] होता है और सत्तामें रहनेवाले प्राचीन बंधनरूप कर्मोंकी निर्जरा होती है। यद्यपि तपका फल स्वर्गकी वा राज्यादिककी प्राप्ति होना भी है, परन्तु प्रधानतासे समस्त कर्मोंका क्षय करके

आत्माको मुक्त करना ही इसका फल है। जैसे खेती करनेका प्रधान फल तो धान्य उत्पन्न होना ही है किंतु गौणतासे उसमें पयालआदि भी उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥

अर्थ—(**सम्यक्**) भलेप्रकार (**योगनिग्रहः**) मन वचन कायकी यथेच्छ प्रवृत्तिको रोकना सो (**गुप्तिः**) गुप्ति है। गुप्ति तीन हैं। मनोयोगको रोकना सो **मनोगुप्ति** है। वचनयोगको रोकना सो **वाग्गुप्ति** है और काययोगको रोकना सो **कायगुप्ति** है ॥ ४ ॥

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥ ५ ॥

अर्थ—(**ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः**) ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग ये पांच (**समितयः**) समितियां हैं ॥ ऊपरके सूत्रमें जो **सम्यक्** शब्द आया है, उसकी अनुवृत्ति[1] इन पांचोंमें आती है। अर्थात्—सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेपण और सम्यगुत्सर्ग; समितिके ऐसे पांच सार्थक नाम हैं। जो जीवोंके उत्पत्तिस्थानोंका ज्ञाता मुनि, सावधान होकर सूर्योदयके पश्चात् जब नेत्रोंमें विषयग्रहण करनेकी सामर्थ्य हो जाय, और मनुष्य तिर्यंचोंके चलनेसे मर्दित होकर मार्ग प्रासुक हो जाय तब आगेकी चार हाथ भूमिको भले प्रकार देखकर धीरे २ चलता है, उस मुनिके पृथ्वीकाय,

---

(१) जो पद (शब्द) ऊपरके सूत्रोंसे ग्रहण किये जाते हैं, वे अनुवृत्तिपद कहाते हैं।

जलकायादि जीवोंकी हिंसाके अभावसे सम्यगीर्यासमिति होती है। और हित [परजीवोंको हितकारी] मित [थोड़ा] संदेहरहित प्रियवचनोंका बोलना सो सम्यग्भाषासमिति है। दिनमें एक बार निर्दोष आहार ग्रहण करना सो सम्यगेषणासमिति है। शरीर, पुस्तक, कमंडलु आदि उपकरणोंको नेत्रोंसे देखकर और पीछीसे शोधकर ग्रहण करने स्थापन करनेरूप प्रवृत्ति रखना, सम्यगादाननिक्षेपणसमिति है। और त्रस स्थावर जीवोंको पीड़ा न हो, ऐसी शुद्ध जंतुरहित भूमिपर मलमूत्रादि क्षेपणकर प्रासुक जलसे शौचक्रिया करना, सम्यगुत्सर्गसमिति है ॥ ५ ॥

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्य-
संयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥ ६ ॥

अर्थ—(उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि) उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश (धर्मः) धर्म हैं ॥ दुष्ट लोगोंके द्वारा तिरस्कार, हास्य, ताड़न, मारणादि क्रोधकी उत्पत्तिके कारण उपस्थित होनेपर भी परिणामोंमें मलीनता न लानेको उत्तम क्षमा कहते हैं। उत्तम जाति, उत्तम कुल, रूप, विज्ञान, ऐश्वर्य, बलआदिके विद्यमान होते हुए भी मान [गर्व] नहीं करनेको उत्तम मार्दव कहते हैं।

अथवा अन्यके द्वारा तिरस्कारादिक होनेपर भी अभिमान न करना सो उत्तम मार्दव है। अन्यके मनवचनकायकी कुटिलताका [वक्रताका] अभाव, सो उत्तम आर्जव है। अन्यके धन स्त्री आदिकपदार्थोंमें अभिलाषाका अभाव तथा परिणामोंको मलिन करनेवाले लोभका अभाव उत्तम शौच[1] है। सुंदर हितमितरूप सत्य वचन बोलना सो उत्तम सत्य है। संयम धर्म दो प्रकारका है, एक प्राणिसंयम और दूसरा इन्द्रियसंयम। ईर्यासमिति आदिकमें प्रवर्त्ते हुए मुनि जीवोंकी रक्षाके लिये जों एकेन्द्रियादि प्राणियोंकी पीड़ा करनेका त्याग करते हैं, सो प्राणिसंयम है। और इन्द्रियोंके विषयोंमें रागका अभाव सो इन्द्रियसंयम है। कर्मोंको क्षय करनेके लिये अनशनादि तप करना, सो उत्तम तप है। संयमी पुरुषोंको योग्य आहारादिका देना—दान करना सो उत्तम त्याग है। आत्मस्वरूपसे भिन्न शरीरादिकमें ममत्वरूप परिणामोंका अभाव सो उत्तम आकिंचन्य है। अपनी तथा परकी स्त्रीके विषयमें जो रागादिरूप तथा विषय सेवनरूप भाव होते हैं, उनके अभावको और ब्रह्म [अपनी आत्मा] में ही रमण करनेको, उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं। इसप्रकार उक्त दश धर्म संवरके लिये धारण करना चाहिये ॥ ६ ॥

---

(१) चतुर्थ धर्मका नाम उत्तम शौच है, और पंचम धर्मका नाम उत्तम सत्य है। क्रोध मान माया और लोभके अभाव होनेपर क्रमसे क्षमा, मार्दव, आर्जव, और शौचधर्म प्रगट होते हैं।

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालो-
कवोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥

भावार्थ—(अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकवोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनम्) अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, वोधिदुर्लभ, और धर्मस्वाख्यातत्व इन बारहके स्वरूपको वारंवार चिन्तवन करना सो (अनुप्रेक्षाः) अनुप्रेक्षा हैं। इन्द्रियोंके विषय धन यौवन जीवितव्यआदि जलके वुदवुदोंके समान अथिर हैं–अनित्य हैं—देखते २ ही नष्ट हो जानेवाले हैं; इसप्रकार चिन्तवन करना सो अनित्यानुप्रेक्षा है। जैसे वनके एकांतस्थानमें सिंहके द्वारा पकड़े हुए मृगको कोई शरण नहीं होता है, उसीप्रकार इस संसारमें कालके गालमें पड़ते हुए जीवोंको भी, कोई रक्षा करनेवाला वा शरण नहीं है, इसप्रकार चिंतवन करना सो अशरणानुप्रेक्षा है। यह जीव निरन्तर एक देहसे दूसरी देहमें जन्म ले ले कर चतुर्गतिमें परिभ्रमण किया करता है और संसार दुःखमय है, इत्यादि संसारके स्वरूपका चिंतवन करना सो संसारानुप्रेक्षा है। जन्म जरा मरण रोग वियोगादि महादुःखोंमें अपनेको असहाय एकाकी चिन्तवन करना अर्थात् यह सोचना कि, सुखदुख सहनेमें मैं अकेला हूं, मेरा कोई साथी नहीं हैं, सो एकत्वानुप्रेक्षा है। शरीर कुटुंबादिकसे अपने स्वरूपको भिन्न चिंतवन करना सो अन्यत्वानुप्रेक्षा है। "शरीर हाड़मांस

मलमूत्रादिसे भरा हुआ महा अपवित्र है" इसप्रकार अपने शरीरके स्वरूपको चिंतवन करना, सो **अशुचित्वानुप्रेक्षा** है। मिथ्यात्व अविरत कषायादिकोंसे कर्मोंका आस्रव होता है। आस्रव ही संसारमें परिभ्रमणका कारण और आत्माके गुणोंका घातक है, इसप्रकार आस्रवके स्वरूपको चिन्तवन करना, सो **आस्रवानुप्रेक्षा** है। संवरके स्वरूपको चिंतवन करना, सो **संवरानुप्रेक्षा** है। कर्मोंकी निर्जरा किस प्रकार होती है, कैसे उपायोंसे होती है इत्यादि निर्जराके स्वरूपको बारंबार चिंतवन करना, सो **निर्जरानुप्रेक्षा** है। लोक कितना बड़ा है, उसमें क्या क्या रचनाएं हैं, कौन २ जातिके जीवोंका कहां २ निवास है, इत्यादि लोकके स्वरूपको चिन्तवन करना सो **लोकानुप्रेक्षा** है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रयको बोधि कहते हैं। इस बोधिकी प्राप्ति होना अतिशय दुर्लभ है। इसकी दुर्लभताका बारंबार चिन्तवन करना, सो **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा** है। धर्म है सो वस्तुका स्वभाव है। आत्माका शुद्ध निर्मल स्वभाव ही अपना धर्म है, तथा दर्शनज्ञानचारित्ररूप वा दशलक्षणरूप वा अहिंसारूप धर्म है। इत्यादि धर्मके स्वरूपको बारंबार चिंतवन करना, सो **धर्मानुप्रेक्षा** है। इन बारह अनुप्रेक्षाओंके चिंतवनसे भी संवर होता है ॥ ७ ॥

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥ ८ ॥

अर्थ—(**मार्गाच्यवननिर्जरार्थं**) रत्नत्रयरूपमोक्षमार्गसे च्युत नहीं हो जावे, इस लिये

तथा कर्मोंकी निर्जराके लिये (परीषहाः) आगेके सूत्रमें कही हुई बाईस परीषह (परिषोढव्या) सहनी चाहिये ॥ ८ ॥

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥ ९ ॥

१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ नाग्न्य, ७ अरति, ८ स्त्री, ९ चर्या, १० निषद्या, ११ शय्या, १२ आक्रोश, १३ वध, १४ याचना, १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तृणस्पर्श, १८ मल, १९ सत्कारपुरस्कार, २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान, २२ अदर्शन, इसप्रकार बाईस परीषह हैं। इन सब परीषहोंसे शरीरसंबंधी वा मनसंबंधी जो अत्यन्त पीड़ा होती है, उसे समभावोंसे सह लेनेसे संवर (कर्मास्रवका निरोध) होता है ॥ अत्यन्त क्षुधारूप अग्निके प्रज्वलित होनेपर उसे धैर्यरूपी जलसे शान्त कर देना क्षुधापरीषहका विजय है। इसीप्रकार तृषाको भी सह लेना सो तृषापरीषहका जय है। शीतको सह लेनेसे शीतपरीषहका जय होता है। ग्रीष्मऋतुकी गर्मीके दुःखोंको सह लेना, उष्णपरीषहका जीतना है। डांस मच्छर वगैरह जीवोंके काटनेकी पीड़ाको सह लेना दंशमशकपरीषहका जीतना है। नग्न होना बड़ा कठिन कार्य है। नग्न होकर भी अपने अंगोंको विकाररूप न होने देना लज्जादिकको जीत लेना, सो नग्नपरीषहका जीतना है। क्षुधा तृषादिकी बाधासे संयममें अरति

वा अरुचि होने लगे, तों उसको न होने देना—संयममें निरंतर रुचि रखना सो अरतिपरीषहका जीतना है। सुंदर स्त्रियोंके हाव भावादिकोंसे विकृत न होना, सो स्त्रीपरीषहका जीतना है। मार्गमें चलते हुए खेदखिन्न न होना, सो चर्यापरीषहका जीतना है। ध्यानके लिये संकल्प किये हुए आसनसे चलायमान नहीं होना, सो निषद्यापरीषहका जीतना है। शास्त्रकी आज्ञानुसार शयनसे नहीं चिगना, सो शय्यापरीषहका जीतना है। अनिष्ट वचनोंको सह लेना, सो आक्रोशपरीषहका जीतना है॥ अपनेको मारनेवालेमें रोष नहीं करना, मारनेकी पीड़ाको सह लेना, सो वधपरीषहका जीतना है। प्राण जाते भी आहारादिकके लिये दीनतारूप प्रवृत्ति नहीं करना, सो याचनापरीषहका जीतना है। आहारादिककी प्राप्ति न होनेपर भी लाभके समान सन्तुष्ट रहना, सो अलाभपरीषहका जीतना है। नानाप्रकारके रोग होनेपर भी इलाजकी इच्छा नहीं करना—रोगजनित पीड़ाको सह लेनां, सो रोगपरीषहका विजय है। मार्ग चलते समय तृण कंटक कंकरी वगैरह पावोंमें चुभनेसे उत्पन्न हुई पीड़ाको सह लेना सो तृणस्पर्शपरीषहका विजय है। अपने मैले शरीरको देखकर ग्लानि न करना वा स्नानादिक करनेकी इच्छा न करना सो मलपरीषहका जीतना है। कोई अज्ञानी पुरुष अपमान करै—सम्मान नहीं करै, तो सम्मानकी इच्छा न रखकर मानापमानमें समभाव रखना, सो सत्कारपुरस्कारपरीषहका जीतना है। विद्वत्ताके मदका अभाव सो प्रज्ञापरीषहका जीतना है। अपनी अज्ञानतासे अपना तिरस्कार

होना और अभिलाषा करनेपर भी ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसे दुःखको सह लेना सो अज्ञानपरीषहका जीतना है। दीक्षा लिए बहुत दिन हो गये, मैं बड़ा तपस्वी हूं तौ भी मुझे ऋद्धि वा अवधिज्ञानादिककी प्राप्ति नहीं हुई, ऐसी इच्छाको नहीं करना, सो अदर्शनपरीषहका जीतना है। इसप्रकार इन बाईस परीषहोंका जीत लेना भी परम संवरका कारण है ॥ ९ ॥

ये परीषह किन २ गुणस्थानोंमें कितनी कितनी होतीं हैं, सो कहते हैं,—

सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

अर्थ—(सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोः) सूक्ष्मसांपराय नामक दशवें गुणस्थानवालोंके तथा छद्मस्थवीतराग अर्थात् उपशान्तकषाय नामक ग्यारहवें और क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें रहनेवालोंके (चतुर्दश) चौदह परीषह होतीं हैं। क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह दशवें ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें रहनेवालोंके होती हैं ॥ १० ॥

एकादश जिने ॥ ११ ॥

अर्थ—(जिने) तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनमें अर्थात् केवली भगवानके (एकादश) ग्यारह परीषह होतीं हैं॥छद्मस्थ जीवोंके वेदनीयकर्मके उदयसे क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, और मल ये ग्यारह परीषह होतीं हैं। केवली भगवानके

भी वेदनीयका उदय है, इसकारण उनके भी ग्यारह परीषह होतीं हैं। परन्तु मोहनीय कर्मके नष्ट होनेसे वेदनीयकर्मका उदय जोर नहीं कर सकता है। अर्थात् ये ग्यारह परीषह केवलीको कोई पीड़ा नहीं दे सकती हैं, इसलिये नहींसी हैं। वेदनीय कर्मके सद्भाव होनेसे नाम मात्र ही कही जाती हैं॥ ११ ॥

वादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

अर्थ—(वादरसाम्पराये) स्थूलकषायवाले अर्थात् छठे सातवें आठवें और नववें गुणस्थानवालोंके (सर्वे) सव परीषह होतीं हैं॥ १२ ॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥

अर्थ—(प्रज्ञाज्ञाने) प्रज्ञापरीषह और अज्ञानपरीषह (ज्ञानावरणे) ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेपर होतीं हैं॥ १३ ॥

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

अर्थ—(अदर्शनालाभौ) अदर्शनपरीषह और अलाभपरीषह (दर्शनमोहान्तराययोः) दर्शनमोह और अन्तराय कर्मके उदय होनेपर होतीं हैं। अर्थात् दर्शनमोहके उदयसे अदर्शनपरीषह और अन्तरायके उदयसे अलाभपरीषह होती है॥ १४ ॥

चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥

अर्थ—(चारित्रमोहे) चारित्रमोहनीयके उदय होनेपर (नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः) नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कारपुरस्कार ये सात परीषह होतीं हैं ॥ १५ ॥

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

अर्थ—(शेषाः) बाकीकी क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्य्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह (वेदनीये) वेदनीय कर्मके उदय होनेपर होतीं हैं॥१६॥

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः ॥ १७ ॥

अर्थ—(एकस्मिन्) एक ही जीवमें (एकादयः) एकको आदि लेकर (युगपत्) एकसाथ (आएकोनविंशतेः) उन्नीस परीषह तक (भाज्याः) विभाग करना चाहिये। भावार्थ—एक जीवके एक साथ उन्नीस परीषह हो सकती हैं। क्योंकि शीतउष्णमेंसे एक कालमें शीत या उष्ण एक ही परीषह होगी और शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनोंमेंसे भी एक कालमें एक ही होगी। इसतरह एक समयमें तीन परीषहोंका सबहीके अभाव होनेसे उन्नीस[1] परीषह ही एक साथ उदय हो सकतीं हैं ॥ १७ ॥

१ श्रुतज्ञानसंवन्धी प्रज्ञापरीषह और अवधिज्ञानावरणोदयजनित अज्ञानपरीषह ये दोनों एक काल होतीं हैं

अब पांचप्रकारके चारित्रका वर्णन करते हैं,—

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रम् ॥ १८ ॥

अर्थ—(सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातम्) सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात (इति) इस प्रकार पांच प्रकारका (चारित्रम्) चारित्र है ॥ व्रतोंका धारण, समितिका पालन, कषायोंका निग्रह, मनवचनकायकी अशुभ प्रवृत्तिरूप अनर्थदंडोंका त्याग, और इन्द्रियोंका विजय जिस जीवके हो, उसीके संयम होता है । समस्त सावद्ययोगका भेदरहित जिसमें त्याग हो, उसे सामायिक चारित्र कहते हैं । प्रमादके कारण यदि कोई सावद्य कर्म बन जावे, तो उससे उत्पन्न हुए दोषको प्रायश्चित्त लेकर छेद देवे और आत्माको फिर व्रतधारणादिरूप संयममें धारण करे, इस क्रियाको छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं अथवा हिंसादिक सावद्य कर्मोंका विभागकरके त्याग करना सो छेदोपस्थापना चारित्र है । जीवोंकी पीड़ाका परित्याग करनेसे विशेष विशुद्धिका होना सो परिहारविशुद्धि चारित्र है । अतिसूक्ष्मकषायके उदयसे सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें जो चारित्र हो, उसे सूक्ष्मसांपराय चारित्र कहते हैं । चारित्रमोहिनीयकर्मके सर्वतया उपशम वा क्षय होनेसे आपका आत्मस्वभावमें स्थित होना सो यथाख्यातचारित्र है ।

सामायिक और छेदोपस्थापन ये दो चारित्र प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन चार गुणस्थानोमें होते हैं । परिहारविशुद्धिचारित्र छट्ठे और सातवें गुणस्थानमें ही होता है । सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र दशवें गुणस्थानमें होता है । और यथाख्यातचारित्र ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें इन चारों गुणस्थानोंमें होता है ॥ १८ ॥

अब निर्जराके कारण बारह तपोंमेंसे पहिले बाह्यतपके भेद कहते हैं,—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसङ्ख्यानरसपरित्याग-
विविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥

अर्थ—(अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसङ्ख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशाः) अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश इसप्रकार छह (बाह्यं तपः) बाह्यतप हैं ॥ लौकिक ख्यातिलाभादिकी इच्छा नहीं करके संयमकी सिद्धिके लिये, रागभावोंका उच्छेद करनेके लिये, कर्मोंके विनाशके लिये, ध्यान स्वाध्यायकी सिद्धिके लिये, इन्द्रिय वा कामके दमनके लिये, तथा जीतनेके लिये जो भोजनका त्याग करना, सो अनशन तप है । और इन्हीं प्रयोजनोंकी सिद्धि वा ध्यानकी निश्चलतादिके लिये अल्पभोजन सो अवमौदर्य तप है । ऐसी प्रतिज्ञा करके कि "एक वा पांच सात घरमें ही जाऊंगा, अथवा एक वा दो ही मुहल्लोंमें जाऊंगा, वा रास्ते तथा मैदानमें ही भोजन मिलैगा,

तो लूंगा, नगरमें नहीं जाऊंगा," आहारके लिये वनसे निकलना और नियमानुसार आहारकी विधि नहीं मिलनेपर वापिस वनमें आकर उपवास धारण कर लेना सो **वृत्तिपरिसंख्यान तप** है। इन्द्रियोंके दमनार्थ, संयमकी रक्षार्थ और लालसाके त्यागार्थ घृत, दुग्ध, तैल, गुड़, लवणादि रसोंका त्याग करना सो **रसपरित्याग तप** है। जीवोंकी रक्षार्थ, प्रासुक क्षेत्रमें, पर्वत गुफा मठ बनखंडादि ऐसे एकान्तस्थानोंमें, जहां कि ब्रह्मचर्य स्वाध्याय ध्यानाध्ययनादिकमें विघ्न न आवे शयन वा आसन करना, सो **विविक्तशय्यासन तप** है। शरीरमें ममत्व न रखके कायको क्लेशादिक करनेवाले तप करना **कायक्लेश तप** है। ये सब तप बाह्य द्रव्यकी अपेक्षासे होते हैं तथा बाह्यमें सबको दीखते हैं, इसकारण इनका नाम बाह्यतप है॥ १९॥

अब आभ्यन्तर तपोंको कहते हैं,—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्॥ २०॥

अर्थ—(प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानानि) प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह (उत्तरम्) अभ्यन्तर तप हैं॥ प्रमादसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना सो **प्रायश्चित्त तप** है। पूज्य पुरुषोंका आदर करना सो **विनय तप** है। मुनियोंकी सेवा टहल करना सो **वैयावृत्त्य तप** है। ज्ञानाराधनमें आलस्यको त्या-

गकर ज्ञानाध्ययन करना करावना उपदेश देना सो स्वाध्याय तप है। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना सो व्युत्सर्गतप है। चित्तविक्षेपका त्याग करना सो ध्यानतप है ॥ २० ॥

अब इन तपोंके भेद कहते हैं,—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥ २१ ॥

अर्थ—(ध्यानात् प्राक्) ध्यानसे पहिले २ के पांच तप (यथाक्रमं) क्रमसे (नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदाः) नव, चार, दश, पांच, और दो भेदरूप हैं ॥ अर्थात्—नव प्रकारका प्रायश्चित्त है, चार प्रकारका विनय है, दशप्रकारका वैयावृत्त्य है, पांचप्रकारका स्वाध्याय है, और दो प्रकारका व्युत्सर्ग है ॥ २१ ॥

अब प्रायश्चित्तके नव भेद कहते हैं,—

आलोचनाप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्ग-
तपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥ २२ ॥

अर्थ—प्रायः शब्दका अर्थ 'अपराध' है, और चित्त शब्दका अर्थ 'शुद्धि करना' है, सो अपराधोंकी शुद्धिकरनेको प्रायश्चित्त कहते हैं। इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों, विवेक, व्युत्सर्ग, तपः, छेद, परिहार, और उपस्थापना ऐसे नव भेद हैं ॥ गुरुके निकट जाकर अपने किये हुए अपराधोंको दश प्रकारके दोषोंसे रहित स्पष्ट रीतिसे

प्रगट करना सो **आलोचना** है। मैंने जो अपराध किये हैं सो मिथ्या होहु, इस प्रकार कहना सो **प्रतिक्रमण** है। कोई दोष तो आलोचनामात्रसे शुद्ध हो जाता है और कोई दोष प्रतिक्रमण करनेसे शुद्ध होता है, और कोई दोष दोनोंके करनेसे शुद्ध होता है, ऐसे आलोचन और प्रतिक्रमण दोनोंके करनेको **तदुभयप्रायश्चित्त** कहते हैं। आहार पान वा उपकरण आदिसे अलग कर देना अर्थात् किसी नियत समयतक आहारादिकका त्याग करा देना, सो **विवेकप्रायश्चित्त** है। कालका नियम करके कायोत्सर्ग करना, सो **व्युत्सर्ग** है। अनशनादि तप, वा उपवास, बेला, तेला पंचोपवासादि करना, सो **तपःप्रायश्चित्त** है। दिन, मास, संवत्सरकी दीक्षाका छेद करना, सो **छेदप्रायश्चित्त** है। पक्ष मासादिकके नियमसे संघसे निकाल देना, सो **परिहारप्रायश्चित्त** है। समस्त दीक्षाको छेदकर फिरसे नई दीक्षा देना सो **उपस्थापनाप्रायश्चित्त** है ॥ २२ ॥

अब विनय नामके अभ्यन्तर तपके भेद कहते हैं,—

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

अर्थ—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय इस तरह विनयके चार भेद हैं। आलस्यरहित होकर शुद्धमनसे अत्यन्त सम्मानपूर्वक जिनसिद्धान्तोंका ग्रहण अभ्यास स्मरणादि करना सो **ज्ञानविनय** है। निशंकितादि दोषरहित सम्यग्दर्शनका धारण करना सो **दर्शनवि-**

नय है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानके धारी पंच प्रकारके चारित्रको पालनेवाले मुनिजनोंका नाम कानोंसे सुनते ही रोमांचित हो अन्तरंगमें हर्षित होना, मस्तकपर अंजुलि करना, और भावोंमें चारित्र धारनेकी इच्छा रखना, सो चारित्रविनय है। आचार्यादि पूज्य पुरुषोंके प्रत्यक्ष होते ही खड़ा हो जाना, सन्मुख जाना, हाथ जोड़ना, वंदन करना, पीछे २ गमन करना तथा आचार्यादिकके परोक्ष रहनेपर भी हाथ जोड़ना, गुणोंकी महिमा करना, बारंबार स्मरण करना, उनकी आज्ञानुसार ही प्रवर्तना सो उपचारविनय है ॥ २३ ॥

अब वैयावृत्यके भेद कहते हैं,—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुल-
संघसाधुमनोज्ञानाम् ॥ २४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, और मनोज्ञ इन दशप्रकारके साधुओंकी सेवा टहल करना, सो दशप्रकारका वैयावृत्य है ॥ जो व्रताचरण धारण करावें, प्रायश्चित्त दें, सबप्रकारके शास्त्रोंके जानकार हों और पंचाचारके धारियोंमें श्रेष्ठ हों, सो आचार्य हैं। जो व्रतशील भावनाके आधार हों और जिनके निकट मुनिगण शास्त्राध्ययन करें, सो उपाध्याय हैं। उपवासादिक महातप करें, सो तपस्वी हैं। जो श्रुतज्ञानके अभ्यास करनेमें तत्पर, और व्रत भावनादिमें निपुण हों, सो शिष्य वा शैक्ष हैं। जिनका

शरीर रोगादिकसे क्लेशरूप हो, सो ग्लान हैं। जो बड़े मुनियोंकी परिपाटीके हों, सो गण हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यके शिष्य हैं, सो कुल हैं। जो चार प्रकारके मुनिसंघके साधु हैं, सो संघ हैं। बहुत कालके दीक्षित हों, सो साधु हैं। और जिनका उपदेश लोकमान्य हो अथवा उपदेश विना ही जो लोकमें पूज्य हों प्रशंसावान् हों, सो मनोज्ञ हैं। इन दशप्रकारके साधुओंका वैयावृत्य करना अर्थात् शरीरसंबंधी व्याधि अथवा दुष्टजनोंके किये हुए उपसर्गादिकमें सेवा टहल करना दवाई वगैरह करना, सो दशप्रकारका वैयावृत्य है ॥ २४ ॥

अब स्वाध्याय तपके भेद कहते हैं,—

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ॥ २५ ॥

अर्थ—वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्यायके पांच भेद हैं। निर्दोष ग्रंथका तथा ग्रंथके अर्थका तथा ग्रंथ और अर्थ दोनोंका विनयवान् धर्मके इच्छुक भव्य पात्रको पढ़ाना सिखाना सुनाना, सो वाचनास्वाध्याय है। शब्दमें वा शब्दके अर्थमें जो संशय हो, उसे दूर करनेके लिये बड़े ज्ञानियोंसे विनयसहित प्रश्न करना, सो पृच्छनास्वाध्याय है। गुरुजनोंकी परिपाटीसे जाने हुए अर्थको मनन करके अभ्यास करना वा वारंवार चिंतवन करना, सो अनुप्रेक्षास्वाध्याय है। पाठको शुद्धतापूर्वक घोखना, सो

आम्नायस्वाध्याय है। उन्मार्गको दूर करनेके लिये, और पदार्थोंका समीचीन स्वरूप प्रकाश-करनेके लिये उपदेशरूप कथन करना, सो धर्मोपदेशस्वाध्याय है ॥ २५ ॥

अब व्युत्सर्गतपको कहते हैं,—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥ २६ ॥

अर्थ—व्युत्सर्गतप[1] दो प्रकारका है। एक बाह्योपधित्याग, और दूसरा अभ्यन्तरोपधित्याग। धन धान्यादि बाह्यपरिग्रहका त्याग सो बाह्योपधित्याग तप है। और क्रोधादि अभ्यन्तर परि-ग्रहोंका त्याग सो अभ्यन्तरोपधित्याग तप है ॥ २६ ॥

अब ध्यानका स्वामी, लक्षण और वह कितने समय तक होता है, यह बतलाते हैं—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्त्तात् ॥ २७ ॥

अर्थ—(उत्तमसंहननस्य) उत्तमसंहननवालेका (आअन्तर्मुहूर्त्तात्) अन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त (एकाग्रचिन्तानिरोधः) एकाग्र चिन्ताका निरोध करना (ध्यानम्) ध्यान है ॥ भावार्थ—छह संहननोंमेंसे पहिलेके वज्रवृषभनाराचसंहनन, वज्रनाराचसंहनन और नाराचसंहनन ये तीन उत्तम संहनन हैं। ये ही तीन संहनन ध्यानके कारण हैं। जिन पुरुषोंके ये तीन संहनन होते हैं, वे ध्यान कर सकते हैं। यह ध्यान अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्त्तपर्यंत रहता है। मोक्ष

[1] व्युत्सर्ग नाम त्यागका है। उपधिनाम परिग्रहका है।

होनेको कारणभूत वज्रवृषभनाराचसंहनन ही है। चित्तकी वृत्तिको अन्य क्रियाओंसे खींचकर एक ही ओर स्थिर करना सो एकाग्रचिन्तानिरोध वा ध्यान तप है ॥ २७ ॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं,—

आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

अर्थ—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ऐसे चार प्रकारका ध्यान है॥ इनमेंसे आर्त्त और रौद्रध्यान अप्रशस्त हैं और धर्म्य तथा शुक्लध्यान प्रशस्त हैं ॥ २८ ॥

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

अर्थ—(परे) अगले दो ध्यान अर्थात् धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान (मोक्षहेतू) मोक्षके कारण हैं ॥ इसी वचनसे पहिलेके दो आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं, ऐसा ध्वनित होता है ॥ २९ ॥

अब पहिले आर्त्तध्यानका लक्षण कहते हैं,—

आर्त्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥

अर्थ—आर्त्तध्यानके चार भेद हैं, उनमेंसे (अमनोज्ञस्य) विष कंटक शत्रु शस्त्रादिक अप्रिय पदार्थका (सम्प्रयोगे) संयोग हो जानेपर (तद्विप्रयोगाय) उसके दूरकरनेके लिये

(स्मृतिसमन्वाहारः) वारंवार चिन्ता करना, विचार करना सो (आर्त्तम्) अनिष्टसंयोगज नामका पहिला आर्त्तध्यान है ॥ ३० ॥

विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

अर्थ—(मनोज्ञस्य) स्त्रीपुत्र धनादि प्यारे पदार्थोंका (विपरीतं) पूर्वोक्तसे विपरीत चिन्तवन करना अर्थात् वियोग होनेपर उनकी प्राप्तिके लिये वारंवार चिन्ता करना, इष्टवियोगज नामका दूसरा आर्तध्यान है ॥ ३१ ॥

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

अर्थ—(च) और (वेदनायाः) वेदनाका अर्थात् रोगजनित पीड़ाका चिन्तवन करना, अधीर हो जाना, विलापादिक करना सो वेदनाजनित तीसरा आर्त्तध्यान है ॥ ३२ ॥

निदानं च ॥ ३३ ॥

अर्थ—(च) और (निदानं) आगामी विषय भोगादिकका निदान करना, बांछा करना और उसका विचार करते रहना सो निदान नामका चौथा आर्त्तध्यान है ॥ ३३ ॥

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्[1] ॥ ३४ ॥

अर्थ—(तत्) वह आर्त्तध्यान (अविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्) मिथ्यात्व, सासा-

---

१ यहां 'अविरत' शब्दसे चतुर्थगुणस्थानवर्ती नहीं, किन्तु व्रतरहित जीव (मिथ्यात्वगुणस्थानसे लेकर अविरत सम्यग्दृष्टितक) समझना चाहिये।

दन, मिश्र और अविरत इन चार गुणस्थानवालोंके तथा पांचवें देशविरत और छट्ठे प्रमत्तसंयत गुणस्थानवालोंके होता है। परन्तु ऊपर कहे हुए चार प्रकारके आर्तध्यानोंमेंसे निदान नामका आर्त्तध्यान प्रमत्त गुणस्थानवालोंके नहीं होता है ॥ ३४ ॥

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥

अर्थ—(अविरतदेशविरतयोः) अविरती अर्थात् पहिले चार गुणस्थानवाले जीवोंके और देशविरती अर्थात् पांचवें गुणस्थानवालोंके (हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यः) हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी) और विषयोंकी रक्षासे चारप्रकारका (रौद्रं) रौद्रध्यान होता है। हिंसा करनेका वारंवार चिन्तवन करना, और उसमें आनन्द मानना हिंसानंदी, झूठ बोलनेका चिन्तवन करना मृषानन्दी, चोरीका चिन्तवन करना चौर्यानन्दी और परिग्रहकी रक्षाका चिन्तवन करना परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है ॥ ३५ ॥

अब धर्म्यध्यानके चार भेद कहते हैं,—

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—(आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय) आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानके विचय अर्थात् विचारके लिये वारंवार चिंतवन करना सो (धर्म्यम्) चार प्रकारका धर्म्यध्यान है। उपदेशदाताके अभावसे और अपनी मन्दबुद्धिसे सूक्ष्म पदार्थोंका स्वरूप अच्छी-

तरह समझमें न आवे, तो उस समय सर्वज्ञकी आज्ञाको प्रमाण मानकर गहन पदार्थका अर्थ अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है। मिथ्यादृष्टियोंके कहे हुए उन्मार्गसे ये प्राणी कैसे फिरैंगे ? इनके अनायतनसेवाका अभाव किस प्रकार होगा ? ये कब सन्मार्गमें आवैंगे ? समीचीन मार्गका तो प्राय: अभावसा हो गया है, इसप्रकार सन्मार्गके अपायका चिन्तवन करना, सो अपायविचय धर्म्यध्यान है। ज्ञानावरणादि कर्मोंका द्रव्यक्षेत्रकालभावके अनुसार जो विपाक अर्थात् फल होता है, उसका चिन्तवन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है। और लोकके संस्थानोंका चिन्तवन करना सो संस्थानविचय धर्म्यध्यान है। यह धर्म्यध्यान चौथे असंयत, पांचवें संयत, छट्ठे प्रमत्तसंयत और सातवें अप्रमत्तसंयत इन चार गुणस्थानोंमें होता है ॥ ३६ ॥

शुक्ले चाद्ये पूर्वविद: ॥ ३७ ॥

अर्थ—अगले ३९ वें सूत्रमें पृथक्त्ववितर्कवीचार, एकत्ववितर्कवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरतक्रियानिवर्त्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद कहेंगे, उनमेंसे (आद्ये शुक्ले) आदिके दो शुक्लध्यान (पूर्वविद:) पूर्वके जाननेवाले अर्थात् श्रुतकेवलीके होते हैं। चकारसे यह सामर्थ्य निकलती है कि श्रुतकेवलीके धर्म्यध्यान भी होते हैं ॥ ३७ ॥

परे केवलिनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—(परे) अगले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्त्ति ये दो ध्यान (केवलिनः) सयोगकेवली और अयोगकेवलीके ही होते हैं, छद्मस्थके नहीं ॥ ३८ ॥

अब शुक्लध्यानके चार भेद कहते हैं,—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्त्तीनि ॥ ३९ ॥

अर्थ—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्त्ति ये शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥ ३९ ॥

अब शुक्लध्यानका अवलंबन कहते हैं,—

त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥ ४० ॥

अर्थ—उक्त चारों भेदोंमेंसे पृथक्त्ववितर्क नामका प्रथम शुक्लध्यान तो मन, वचन और काय इन तीनों योगोंके धारकके होता है। दूसरा एकत्ववितर्क नामका शुक्लध्यान तीनोंमेंसे किसी एक योगवालेके होता है। तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामका ध्यान काययोगवालोंके ही होता है। और चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ति नामका ध्यान अयोगकेवलीके होता है ॥ ४० ॥

अब प्रथमके दो ध्यानोंके विशेष जाननेकेलिये सूत्र कहते हैं—

एकाश्रये सवितर्कवीचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

अर्थ—(पूर्वे) पहिलेके दो ध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क नामके दो शुक्लध्यान (एकाश्रये) एकाश्रय अर्थात् श्रुतकेवलीके आश्रय होते हैं और (सवितर्कवीचारे) वितर्क और वीचारसहित होते हैं ॥ ४१ ॥

इस सूत्रमें वितर्क और वीचारको कोई यथासंख्य नहीं समझ लेवे, अर्थात् ऐसा न समझलेवे कि, पहिला सवितर्क है और दूसरा वीचार है, इसलिये कहते हैं—

अवीचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—(द्वितीयं) दूसरा शुक्लध्यान (अवीचारं) वीचाररहित है॥ अर्थात् आदिका शुक्लध्यान तो वितर्क और वीचार दोनोंसहित है और दूसरा वितर्कसहित परन्तु वीचाररहित है॥ ४२ ॥

अब वितर्कका लक्षण कहते हैं,—

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—(श्रुतम्) श्रुतज्ञान है सो (वितर्कः) वितर्क है । अर्थात् श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। विशेष प्रकारसे तर्क करनेको वितर्क कहते हैं। शब्द श्रवणपूर्वक ग्रहणको श्रुतज्ञान कहते है ॥ ४३ ॥

वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

अर्थ—(अर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः) अर्थ, व्यञ्जन और योगोंकी पलटन है, सो (वीचारः) वीचार है ॥ ध्येय द्रव्यको छोड़कर उसकी पर्यायका ध्यान करनेको और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका ध्यान करनेको अर्थसंक्रान्ति कहते हैं । श्रुतके एकवचनका अवलंबन करके अन्यका अवलंबन करनेको और उसको छोड़ दूसरेको अवलंबन करनेको व्यञ्जनसंक्रान्ति कहते हैं । और काययोगको छोड़कर मनोयोग वा वाग्योगके ग्रहण करनेको और मनोयोग वा वाग्योगको छोड़कर काययोगके ग्रहण करनेको योगसंक्रान्ति कहते हैं । इस प्रकारके परिवर्त्तनको ही वीचार कहते हैं ॥ ४४ ॥

इसप्रकार बाह्याभ्यन्तरतपोंका वर्णन किया । ये दोनों तप नवीन कर्मोंका निषेध करनेके हेतु होनेसे संवरके कारण हैं और पूर्वबंधे कर्मोंके नष्ट करनेके निमित्त होनेसे निर्जराके भी कारण हैं ।

अब तपश्चरणादि करनेसे जो निर्जरा होना कहा है, वह समस्त सम्यग्दृष्टी जीवोंके एकसी ही होती है कि भिन्न २ होती है, यह बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं,—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥ ४५ ॥

अर्थ—(सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः) सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत अर्थात् महाव्रतिमुनि, अनन्तानुबंधीका विसंयोजन करनेवाला, दर्शनमोहको नष्ट करनेवाला, चारित्रमोहको उपशम करनेवाला, उपशान्तमोहवाला, क्षपकश्रेणी चढ़ता हुआ, क्षीणमोही और जिनेन्द्रभगवान् इन सबके (क्रमशः) क्रमसे (असङ्ख्येयगुणनिर्जराः) असंख्यात गुणी निर्जरा होती है ॥ अर्थात् सम्यग्दृष्टिसे असंख्यातगुणी पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकके और श्रावकसे असंख्यातगुणी मुनिके इसप्रकार प्रत्येकके ऊपर २ बढ़ती हुई असंख्यातगुणी निर्जरा होती है ॥ ४५ ॥

अब मुनियोंके पांच भेद कहते हैं,—

पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ॥ ४६ ॥

अर्थ—(पुलाकवकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाः) पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रंथ, और स्नातक, ऐसे पांच प्रकारके (निर्ग्रन्थाः) निर्ग्रंथसाधु हैं॥ जो उत्तर गुणोंकी भावनारहित हों, और मूलगुणोंमें भी किसी काल वा किसी क्षेत्रमें परिपूर्णताको प्राप्त न हों, अर्थात् कभी किसी कारणके वशसे जिनके मूलगुणोंमें भी दोष लग जाता है, उन्हें पुलाकमुनि कहते हैं। जिनके मूलगुण परिपूर्ण हों परन्तु अपने शरीर उपकरणादिकी शोभा बढ़ानेकी किंचित् इच्छा रहती हो, उनको वकुशमुनि कहते हैं। कुशील मुनि दो प्रकारके होते हैं—एक प्रतिसे-

वनाकुशील और दूसरे कषायकुशील। जिनके उपकरण और शरीरादिकसे विरक्तता न हो और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंकी तो परिपूर्णता हो, परन्तु उत्तर गुणोंमें कारण विशेषसे कभी कुछ विराधना आती हो, उनको प्रतिसेवनाकुशील कहते हैं। और जिन्होंने संज्वलन कषायके अतिरिक्त अन्य कषायोंको जीत लिया हो, उन्हें कषायकुशील कहते हैं। जिनके मोहकर्मके उदयका अभाव हो, और जैसे जलमें दंड ताड़नेसे लहर उठती है और शीघ्र ही विलय हो जाती है, उसी प्रकार अन्य कर्मोंका उदय मंद हो, प्रगट अनुभवमें नहिं आवे, उनको निंर्ग्रन्थ साधु कहते हैं। और समस्त घातिया कर्मोंको नाशकरनेवाले केवली भगवान् स्नातक हैं। इसप्रकार ये पांचों ही निर्ग्रंथ हैं॥ ४६॥

अब पुलाकादिक निर्ग्रंथोंके और भी भेद कहते हैं,—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

अर्थ—(संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः) संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठ प्रकारके भेदोंसे भी पुलाकादिक मुनि (साध्याः) साधने योग्य हैं। अर्थात् उक्त आठ कारणोंसे पुलाकादि मुनियोंके और २ भी भेद होते हैं॥ ४७॥

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्यायः॥ ९॥

---

(१) उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती।

अथ दशमोऽध्यायः प्रारभ्यते ।



इस अध्यायमें सप्ततत्त्वोंके वर्णनमेंसे मोक्षतत्त्वका स्वरूप कहना है । और मोक्षकी प्राप्ति केवलज्ञानपूर्वक है अर्थात् पहिले केवलज्ञान हो जाता है, तब मोक्ष होता है । इसकारण पहिले केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण कहते हैं,—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ॥ १ ॥

अर्थ—(**मोहक्षयात्**) मोहनीय कर्मके क्षय होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्तपर्यंत क्षीणकषाय नामका बारहवां गुणस्थान पाकर (च) तत्पश्चात् (ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयात्) युगपत् [एकसाथ] ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेसे (केवलम्) केवलज्ञान होता है ॥ **भावार्थ**—ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंके सर्वथा नष्ट हो जानेपर केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

अब मोक्षका लक्षण क्या है और वह किस कारणसे होता है, सो कहते हैं,—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥ २ ॥

अर्थ—(**बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्**) बन्धके कारणोंके नहीं रहनेसे और निर्जराके होनेसे (**कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः**) समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव हो जाना, सो (**मोक्षः**) मोक्ष है ॥

भावार्थ—केवलज्ञान होनेके पश्चात् वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिया कर्मोंका नाश हो जाना अर्थात् आगामी कर्मबंधके कारणोंका अभाव, और पूर्वसंचित कर्मोंकी सत्ताका सर्वथा नाश हो जाना, सो ही मोक्ष है ॥ २ ॥

अब पुद्गलमयी द्रव्यकर्मकी प्रकृतियोंके नाश होनेसे ही मोक्ष होता है, या भावकर्मोंका भी नाश हो जाता है, इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं,—

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥ ३ ॥

अर्थ—(च) और मोक्षजीवके (औपशमिकादिभव्यत्वानाम्) औपशमिकादि भावोंका और पारिणामिक भावोंमेंसे भव्यत्वभावका भी अभाव होता है ॥ भावार्थ—औपशमिक क्षायोपशमिक और औदयिक तथा भव्यत्व इन चार प्रकारके भावोंका और पुद्गलकर्मोंकी समस्त प्रकृतियोंका नाश होनेपर मोक्ष होता है ॥ ३ ॥

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ—(केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः) केवलसम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, और केवलसिद्धत्व इन चार भावोंके (अन्यत्र) सिवाय अन्य भावोंका मुक्त जीवके अभाव है ॥ यहां प्रश्न होता है कि, यदि मुक्त जीवके ये चार ही भाव अवशेष रहते हैं, तो अनन्तवीर्यादिका भी अभाव समझना चाहिये। इसका समाधान यह है कि अनन्तवीर्यादिक हैं सो

अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनसे अविनाभावीसंबंधवाले हैं अर्थात् अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनके साथ २ अनन्तवीर्य अनन्तसुखादिक भाव भी नियमसे रहते हैं। क्योंकि अनन्त सुख अनन्तवीर्य जीवमें ही होते हैं जड़में नहीं होते। जब जीवमें होते हैं, तो जीव अनन्तज्ञानमय है—ज्ञानके विना जड़के सुख हो ही नहीं सकता ॥ ४ ॥

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥ ५ ॥

अर्थ—(तदनन्तरं) समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेके पश्चात् मुक्तजीव (आलोकान्तात्) लोकके अन्त भाग तक (ऊर्ध्वं) ऊपरको (गच्छति) जाता है ॥ ५ ॥

आगे ऊर्ध्वगमनका हेतु कहते हैं,—

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ॥ ६ ॥

अर्थ—(पूर्वप्रयोगात्) पूर्वप्रयोगसे (असङ्गत्वात्) असंग होनेसे (बन्धच्छेदात्) कर्मबंधके नष्ट हो जानेसे (च) और (तथागतिपरिणामात्) तथागतिपरिणामसे अर्थात् ऊर्ध्वगमन स्वभावके होनेसे मुक्तजीवका ऊर्ध्वगमन होता है ॥ ६ ॥

अब इन चारों कारणोंके चार दृष्टान्त देते हैं,—

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ॥ ७ ॥

अर्थ—(आविद्धकुलालचक्रवत्) कुंम्हारके द्वारा घुमाये हुए चाकके समान, (व्यपगतलेपालाबुवत्) जिसपरसे मिट्टीका लेप दूर हो गया है, ऐसी तुंबीके समान, (एरण्डवीजवत्) एरंडके बीजके समान (च) और (अग्निशिखावत्) आगकी शिखाके समान मुक्त जीवका ऊर्द्धगमन होता है। ये चार दृष्टान्त पूर्वसूत्रमें दिये हुए चार हेतुओंके प्रगट करनेवाले हैं। अर्थात् जिसतरह पूर्वके प्रयोगसे दंडेके द्वारा भरे हुए घुमावसे कुम्हारका चक्र उसके घुमाना बन्द कर देने पर भी बराबर फिरता रहता है, उसी प्रकारसे संसारी जीव मुक्ति गमनके लिये जो निरन्तर चिन्तवन किया करता है, उस संस्कारके कारण मुक्त हो जानेपर भी गमन करता है। जिसतरह मिट्टीसे लिपटी हुई तुंबी जबतक मिट्टीके कारण भारी रहती है, तबतक पानीमें डूबी रहती है, परन्तु ज्यों ही उसकी मिट्टी धुल जाती है, त्यों ही वह पानीके ऊपर उतरा आती है। इसी प्रकारसे कर्मके भारसे दबा हुआ आत्मा ज्यों ही उनसे छुटकारा पाकर हलका हो जाता है, त्यों ही ऊपरको गमन करता है। जिस तरह एरंडका बीज जबतक फलके आवरणसे ढँका हुआ रहता है, तबतक तो बंधा रहता है, परन्तु ज्यों ही सूखनेपर आवरण दूर होता है, त्यों ही चिटककर ऊपरको उछलता है। इसी प्रकारसे कर्म प्रकृतियोंसे बंधा हुआ आत्मा ज्यों ही छूटता है, त्यों ही ऊपरको जाता है, और जिस तरह यहां वहांकी हवाके न होनेसे अग्निकी शिखा ऊपरको ही जाती है, उसी

प्रकारसे मनुष्यादि गतियोंमें लेजानेवाले कर्मोंके अभावसे जीव स्वभावसे ऊपरको गमन करता है।

जीवका जब ऊर्द्ध्वगमनका स्वभाव है, तो फिर लोकके अन्तमें ही क्यों ठहर जाता है? अलोकाकाशमें भी क्यों नहीं चला जाता है? इसका उत्तर आचार्य महाराज देते हैं कि,—

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

अर्थ—अलोकाकाशमें धर्मास्तिकायके अभाव होनेसे गमन नहीं होता है। अर्थात् धर्मादिक पांच द्रव्योंका निवास लोकाकाशमें ही है अलोकाकाशमें नहीं है और जीव और पुद्गलको गमन करनेमें सहायक धर्मद्रव्य ही होता है जिसका कि आगे अभाव है, इसलिये जीवके गमनका भी अभाव है। इसीकारण मुक्तजीव लोकके अन्तमें जाकर सिद्धस्थानमें ठहर जाता है ॥ ८ ॥

यदि यहां कोई प्रश्न करे कि, मुक्तजीवोंमें कुछ भेद भी है कि नहीं? तो उसका उत्तर इस प्रकार है—

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुतत्वतः साध्याः ॥ ९ ॥

अर्थ—(क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुतत्वतः) क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुतत्व इन बारह अनुयोगोंसे सिद्धोंमें भी भेद (साध्याः) साधने

चाहिये ॥ अर्थात् इन कारणोंसे मुक्तजीवोंके भी भेद किये जा सकते हैं ।

भावार्थ—वास्तवमें तो सिद्धोंमें कोई भेद नहीं है, सब एकसे हैं, परन्तु क्षेत्रकी अपेक्षासे कि भरत विदेहआदि किस क्षेत्रसे वे मुक्त हुए हैं, कालकी अपेक्षासे—कि किस कालमें मुक्त हुए हैं, गतिकी अपेक्षासे—कि किस गतिसे मोक्ष गये हैं, लिंग की अपेक्षासे—कि तीन भावलिंगोंमेंसे किस लिंगसे क्षपकश्रेणी चढ़कर मोक्ष पाया है, तीर्थकी अपेक्षासे—कि किस तीर्थंकरके तीर्थमें मोक्षमें गये हैं वा तीर्थंकर होकर मोक्ष हुए हैं या सामान्य केवली होकर हुए हैं, चारित्रकी अपेक्षासे—कि किस चारित्रसे कर्मोंसे छूटे हैं, प्रत्येकबुद्धबोधितकी अपेक्षासे—कि स्वयं बोधित होकर सिद्ध हुए हैं या किसीके उपदेशसे बोधित हुए हैं, ज्ञानकी अपेक्षासे—कि मतिश्रुतपूर्वक केवलज्ञान पाकर मोक्षको गये हैं या मति श्रुत अवधि या मतिश्रुत अवधि मनपर्ययपूर्वक केवली हुए हैं, अवगाहनाकी अपेक्षासे—कि अधिकसे अधिक पांचसौ धनुषके और छोटेसे छोटे साढ़ेतीन हाथके शरीरमेंसे किस शरीरसे मोक्ष हुए हैं, अन्तरकी अपेक्षासे कि— एक मुक्त हुए जीवसे दूसरे मुक्त जीवके बीचके समयमें कितना अन्तर है, संख्यासे कि उसके साथ और कितने जीव मुक्त हुए हैं, और अल्पबहुत्वकी अपेक्षासे—कि समुद्रद्वीप आदि स्थानोंसे थोड़े बहुत कितने सिद्ध हुए हैं, इस तरह सिद्धोंमें भेदोंकी कल्पना हो सकती है ।

इति श्रीमदुमास्वामिविरचिते तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अन्तिमप्रार्थना ।

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यंजनसन्धिविवर्जितरेफम् ।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥ १ ॥

अर्थ—यदि यह ग्रन्थ कहींपर अक्षर, मात्रा, पद, स्वररहित हो, तथा व्यंजन, संधि, और रेफ वर्जित हो, तो इस विषयमें सज्जन पुरुषोंको वा मुनिजनोंको मुझपर क्षमा करना चाहिये । भला, इस शास्त्ररूपी महान् समुद्रमें कौन गोते नहीं खाता है अर्थात् कौन नहीं भूलता है—भूल सबसे होती है ।

माहात्म्य ।

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥ २ ॥

अर्थ—इस दशअध्यायवाले तत्त्वार्थ शास्त्रके (भावपूर्वक) पढ़नेसे एक उपवासके करनेका फल होता है, ऐसा बड़े २ मुनियोंने कहा है ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः